कृतिकार एवं कृति

•

विश्वनाथ का स्थिति-काल

संस्कृत साहित्य के इतिहास में कविराज विश्वनाथ सम्मान्य आलंकारिक और कवि हुए हैं। उनका साहित्यशास्त्र का लक्षणग्रन्थ 'साहित्यदर्पण' अपनी सुबोध एवं स्पष्ट शैली के लिए अत्यन्त लोक-प्रिय है। उसमें काव्य तथा नाट्य दोनो तत्वो की प्रामाणिक मीमासा है। विश्वनाथ के पिता, पितामह कवि तो थे ही, उनकी बहुत बडी विद्वद् मण्डली भी थी जो साहित्यविद्या मे निष्णात थी, इसका पता हमे 'साहित्यदर्पण' में उद्धृत छन्दो से चलता है। अत. संस्कृत-साहित्य के पाठको के लिए कविराज विश्वनाथ का नाम और कृतित्व नया नही है। उनकी प्रशस्त कृति 'चन्द्रकला नाटिका' जो अब तक उपेक्षित पडी थी, उसका सागोपाग प्रकाशन पाठको के लिए नवीनता अवश्य रखता है।

मध्यकालीन इतिहास (१२वो शती ई०) के पश्चात् विश्वनाथ की स्थिति है और वे १४वो या १५ वो शती ई० में किसी समय रहे, उत्कल प्रदेश के कलिंग नरेश नरसिंहभानुदेव चतुर्थ की सभा में महासान्धिविग्रहिक के रूप में उनकी प्रतिष्ठा थी। उनकी स्थिति और काल के सम्बन्ध में इतनी सी धारणा सामान्य-सया है। किन्तु उनके ग्रन्थ एव तत्कालीन इतिहास के प्राप्त शिलालेख आदि मे कुछ ऐसी सामग्री उपलब्ध होती है जिससे हम उनके काल के सम्बन्ध में 'इदमित्थम्' निर्धारण करने के सूत्र भी पाते हैं। यहाँ संक्षेप में उन साक्ष्यों एव प्रमाणो के साथ विश्वनाथ की कालस्थिति पर विचार किया जाता है।

'साहित्यदर्पण' में अलावदीन नृपति (सुलतान अलाउद्दीन १२९५—१३१६ ई०) का उल्लेख है।[1] तथा जयदेव के 'गीतगोविन्द'[2] नैषधीयचरित[3]

---

१ साहित्यदर्पण परिच्छेद ४ :

सन्धौ सर्वस्वहरणं विग्रहे प्राणनिग्रह॰ ॥
अलावुद्दीननृपतौ न सन्धिर्न च विग्रहः ॥

२. साहित्यदर्पण परिच्छेद १०।

३. वही परिच्छेद।

कृष्णानन्द कवि कृत 'सहृदयानन्द'[1] के छन्द उदाहरण रूप में उद्धृत किये गये है, एव रस के सम्बन्ध में धर्मदत्त के मत का उल्लेख है।[2] इन ग्रन्थकारो का स्थिति-काल (कृष्णानन्द तथा धर्मदत्त को छोडकर) १२वी शती के मध्य है, यह सर्वविदित इतिहास है। 'कृष्णानन्द' कवि सम्भवत विश्वनाथ के समकालिक एवं उनके तद्देशीय थे। वे भी विश्वनाथ की तरह किसी नृपति की राजसभा मे सान्धिविग्रहिक-पद पर नियुक्त थे, उनके महाकाव्य की पुष्पिका में इसका उल्लेख है—'इति श्री सान्धिविग्रहिक सकलकवि—कुलमौलिमण्डन श्रीकृष्णानन्द-कृत सहृदयानन्द महाकाव्ये ......'। कलिंग नरेश चतुर्थ का एक ताम्रपत्र मिलता है जिसमें 'कृष्णानन्द सान्धिविग्रहिक महापात्र' का उल्लेख है[3] ताम्रपत्र का समय वही हो सकता है जो नरसिंहदेव चतुर्थ का शासनकाल—१४१४ ई० है। मे कलिंगनरेश नरसिंह चतुर्थ १४वी शती के उत्तरार्द्ध से १५ वी शती के प्रथम शतक मे शासनारुढ थे।[4] अत 'सहृदयानन्द' के रचयिता कृष्णानन्द की कलिंग मे ही स्थिति होने के कारण उनका कविराज विश्वनाथ के समकाल होना बहुत सम्भव है जिसके कारण उन्होंने अपने समकालिक परिचित कवि के छन्द को 'साहित्यदर्पण' मे उद्धृत किया, क्योकि 'सहृदयानन्द' 'गीतगोविन्द' 'नैषधीयचरित' के समान ऐसा प्रथित महाकाव्य नही था कि उसका उल्लेख सामान्यतया लक्षण-ग्रन्थो मे किया जाता। कृष्णानन्द नरसिंह चतुर्थ की सभा में थे, नरसिंह चतुर्थ का समय १४वी शती उत्तरार्द्ध है, अत कृष्णानन्द के कृतित्व का उल्लेख

---

१. वही परिच्छेद।

२. तदाह धर्मदत्त स्वग्रन्थे—

> रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयते,
> तच्चमत्कारसारत्वे सर्वत्राप्यद्भुतो रस,
> तस्मादद्भुतमेवाह कृती नारायणो रसम्॥
> —साहित्यदर्पण परिच्छेद ३।

३. ....'तत्र विजय समये पार्श्वे महापात्र कृष्णानन्द सान्धिविग्रहिक महापात्र लाण्डुरय आचार्य, महापात्र गोपीनाथ सान्धिविग्रहिक...।

४. डिस्क्रिप्टिव कैटलाग—संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स आफ उडीसा पृ० ७४।

करनेवाले कविराज विश्वनाथ के स्थिति-काल की पूर्व सीमा १४वी शती का पूर्वार्द्ध हुई । अर्थात् इसके पूर्व विश्वनाथ को स्थिति नही होनी चाहिए ।

अब पर—सीमा पर विचार करें।' प्रतापरुद्रयशो-भूषण' के टीकाकार कुमारस्वामी ने टीका में 'साहित्यदर्पण' का उल्लेख किया है ।[1] 'काव्य प्रकाश' के टीकाकार गोविन्दठक्कर ने अपनी प्रदीप-टीका में कविराज विश्वनाथ के मत की आलोचना की है ।[2] गोविन्द ठक्कर का उल्लेख काव्यप्रकाश के टीकाकार कमलाकर भट्ट ने किया है, कमलाकर भट्ट की टीका १६१२ ई० में लिखी गयी ।[3] अत गोविन्द ठक्कर १६४० ई० के पूर्व रहे होगे। कुमारस्वामी विजय-नगर सम्राट् मल्लिकार्जुन की सभा को अलंकृत करते थे, यह मान्यता है। मल्लिकार्जुन देवराय द्वितीय के पुत्र थे, देवराय द्वितीय की मृत्यु १४४६ ई० में हुई, उसके बाद ही मल्लिकार्जुन सिंहासनारूढ़ हुए ।[4] अत १४५० ई० कवि-राज विश्वनाथ के स्थिति-काल की पर-सीमा हुई ।

ऊपर निर्धारित पूर्व एवं पर-सीमा के अनुसार कविराज विश्वनाथ १४वी शती ई० उत्तरार्द्ध से लेकर १५वी शती ई० पूर्वार्द्ध के बीच किसी अवधि में वर्तमान थे ।

इनके स्थिति-काल के सम्बन्ध में और निकटतम प्रमाण हमें उपलब्ध है । विश्वनाथ के पिता चन्द्रशेखर भी सान्धिविग्रहिक एवं कई भाषाओ के कवि थे ।

---

१ सम्मोहानन्द सम्भेदो मदोमद्योपयोगज' इत्यादि साहित्यदर्पणे । (परिच्छेद ३।१४६)

२ अर्वाचीनास्तु 'यथोक्तस्य काव्य लक्षणत्वे काव्यपदं निर्विषयं प्रविरल विषय वा स्यात ।' (प्रदीप)—'अविरलविषयं वा निर्विषय वा स्यात्' (साहित्यदर्पण । परिच्छेद प्रथम ।)

३ वसुऋतु ऋतुभूमिते गतेऽब्दे नरपतिविक्रमतोऽथ याति रौद्रे । तपसिशिवतिथौ समापितोऽयं रघुपतिपादसरोरुहेऽर्पितश्च ।।

४. भारतीय इतिहास का उन्मीलन पृ० ४२१ ।

उनका एक छन्द विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण के व्यञ्जना प्रकरण म उद्धृत किया है,[1] जिसमे श्लेष से शिव-भवानी तथा राजा भानुदेव और उनकी रानी उमादेवी का वर्णन है। स्वय विश्वनाथ ने छन्द की टिप्पणी करते हुए इसका स्पष्टीकरण किया है। इससे यह प्रमाणित होता है कि विश्वनाथ के पिता राजा भानुदेव की सभा में सान्धिविग्रहिक थे। भुवनेश्वर के लिंगराज मन्दिर के पार्श्ववर्ती पार्वती मन्दिर में एक शिलालेख प्राप्त है जिसमें भानुदेव तथा महारानी उमादेवी का नामोल्लेख है।[2] इसी प्रकार विशाखापत्तन के सिंहाचलम् मन्दिर के भी एक शिलालेख में उमादेवी का नाम मन्दिर-निर्माण के लिए धनदात्री के रूप में उट्टकित है।[3] इस द्वितीय शिलालेख का समय १३७९ ई० है। १३७९ ई० से १४११ ई० तक नरसिंह भानुदेव चतुर्थ ने राज्य किया है जिनके पिता-माता भानुदेव और उमादेवी थे। १३७९ ई० का शिलालेख जिसमे केवल उमादेवी का ही नाम है, उनके वैधव्य-काल का है उस समय उनके पुत्र नरसिंह भानुदेव चतुर्थ राज्य कर रहे थे। कविराज विश्वनाथ ने अपने पिता चन्द्रशेखर का उल्लेख 'साहित्यदर्पण' में सान्धिविग्रहिक विशेषण के साथ किया है। अत ऐसा प्रतीत होता है कि विश्वनाथ ने जब 'साहित्यदर्पण' लिखा उनके पिता चन्द्रशेखर सान्धिविग्रहिक पद पर थे। और विश्वनाथ ने परम्परागत उपाधि के रूप में उक्त विशेषण का उल्लेख किया होगा। अथवा न भी रहे हो तो भी चन्द्रशेखर ने उक्त छन्द भानुदेव की प्रशस्ति में तब लिखा है जब भानुदेव और उमादेवी दोनो जीवित थे, अत यह घटना १३७६ ई० किंवा १३७३ ई० के पूर्व

१ दुर्गालङ्घित विग्रहो मनसिज सम्मीलयस्तेजसा—
प्रोद्यद्राजकुलो गृहीतगरिमा विष्वग्वृतो भोगिभि ।
नक्षत्रेश कृतेक्षणो गिरिगुरौ गाढां रुचिं धारयन्,
गामाक्रम्य विभूतिभूषिततनू राजत्युमावल्लभ ।।

२ स्वस्ति श्री भाणुदेवस्य प्रवर्द्धमान विजयराज्ये त्रयोदशाङ्कऽभिलिख्य-
माने श्री उमादेव्या.... ।

३ उडीसा हिस्टारिकल रिसर्च जरनल भाग ३, पृ० १४६ ।

की है। पिता चन्द्रशेखर की मृत्यु के पश्चात् पिता के स्थान पर ही कविराज विश्वनाथ को नरसिंह भानुदेव चतुर्थ ने अपना सान्धिविग्रहिक नियुक्त किया होगा।

भानुदेव तृतीय के पश्चात् कविराज विश्वनाथ का स्थिति-काल नितान्त स्पष्ट है। किन्तु हम इसे बहुत दूर नही ले जा सकते। क्योकि सान्धिविग्रहिक का पद अपने पिता के स्थान पर ही कविराज विश्वनाथ को मिला होगा। चन्द्रशेखर की उक्त प्रशस्ति भानुदेव तृतीय के जीवनकाल की है जिसका शिलालेख पार्वती-मन्दिर में है। इन राजाओं का वंशवृक्ष इस प्रकार प्राप्त होता है—

कविराज उल्लासदास के आश्रयदाता नरसिंह तृतीय (१३२८-१३५८) चन्द्रशेखर के आश्रयदाता नरसिंह भानु तृतीय (१३५३-१३७८) विश्वनाथ कविराज के आश्रयदाता नरसिंह चतुर्थ या निश्शंक भानुदेव (१४००-१४२०) रहे। और इन्ही की सभा में विश्वनाथ जी का लेखन-कार्य प्रारम्भ हुआ।

जिस अलावुदीन का उल्लेख विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में किया है वह खिलजीवंश का दिल्ली का सुलतान अलाउद्दीन ही है, दूसरा नही। उसके क्रूर व्यवहार की ही प्रसिद्धि इतिहास में है। एक अलाउद्दीन बहमनी राज्य में भी हुआ है जिसका शासनकाल १४३५-१४५८ ई० तक रहा है। उसके समकाल या बाद में विश्वनाथ की स्थिति नही हो सकती। क्योकि विश्वनाथ के पिता चन्द्रशेखर १३७३ ई० के पूर्व भानुदेव की प्रशस्ति लिखते हैं, यदि उस समय भी हम विश्वनाथ का जन्म स्वीकार करें तो १४३५ तक ६० वर्षों से ऊपर का समय बीत जाता है, जिसके बाद हम 'साहित्यदर्पण' की रचना और उसमें बहमनी के अलाउद्दीन शासक का उल्लेख सम्भव नही मान सकते।

चन्द्रशेखर की उक्ति श्लेषात्मक प्रशस्ति की है, इसलिए वह प्रशस्ति भानुदेव के पुत्र के समय की न होकर भानुदेव के समय की होगी, अतःश्लेष अलंकार में प्रच्छन्न प्रशस्ति राजा की, की गयी है। जो सामने सुनाये जाने के औचित्य का संकेत करती है, यदि भानुदेव के पुत्र के समय यह प्रशस्ति लिखी गयी होती तो प्रशस्ति का रूप श्लेष-प्रच्छन्न न होकर और भी प्रकट होता।

अतः १३७३ ई० में सान्धिविग्रहिक पद पर विश्वनाथ के पिता चन्द्रशेखर

की स्थिति स्वीकार कर लेने पर यह मानना पड़ेगा कि विश्वनाथ का जन्म उसके पूर्व १३५० ई० के लगभग, अवश्य हो गया रहा होगा। और 'साहित्यदर्पण की रचना १३८० से १४४० ई० के बीच कभी हुई होगी। और कविराज विश्वनाथ १४वीं शती के उत्तरार्द्ध तथा १५वी शती ई० के पूर्वार्द्ध में विद्यमान थे। 'चन्द्रकला नाटिका' की कथावस्तु भी उनके आश्रयदाता से सम्बन्धित है, इस नाटिका की रचना भी उन्होंने अपने और अपने आश्रयदाता के यौवन-काल के प्रथम चरण में की होगी। अर्थात् १३७५ से १३९० ई० के बीच में। गजपति राजाओं के वंशवृक्ष-क्रम में विश्वनाथ नरसिंहदेव चतुर्थ के सान्धि-विग्रहिक थे। सिंहाचलम मन्दिर के एक शिलालेख[1] से ज्ञात होता है कि नरसिंहदेव ने षष्ठ अभिषेक वर्ष के उपलक्ष्य में एक नयी प्रथा का प्रचलन किया जिसे 'निश्शङ्कु-भानुभोग' की सज्ञा दी गयी। स्पष्ट है कि नरसिंहदेव चतुर्थ 'निशशक भानुदेव' नाम से भी ख्यात रहे। इन्हीं के दरबारी और अपने समकालिक कवि कृष्णानन्द महापात्र के काव्य 'सहृदयानन्द' के छन्द विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में उद्धृत किया है। अस्तु! नरसिंहदेव चतुर्थ के पुत्र निशशकमालु की किसी विजय के उपलक्ष्य में 'चन्द्रकला' की रचना का अनुमान करना समीचीन नहीं है। उनकी रचनाओं के क्रम में 'चन्द्रकला नाटिका' का स्थान प्रथम, 'प्रशस्ति रत्नावली का चतुर्थ और 'साहित्यदर्पण' का सप्तम या अन्तिम होना चाहिए। क्योंकि इन ग्रन्थों में उन्होंने अपने भाषा ज्ञान की यथोत्तर वृद्धि का परिचय दिया है, नाटिका में १४ भाषाओं का विद्वान् 'प्रशस्ति रत्नावली में १६ भाषा का तथा 'साहित्य-दर्पण' में १८ भाषाओं का विद्वान् उन्होंने अपने को कहा है।

चन्द्रकलानाटिका—स्वरूप और समीक्षा

'चन्द्रकलानाटिका' की प्रस्तावना में विश्वनाथ ने स्वयं को 'नाट्यवेददीक्षागुरो' सूत्रधारा द्वारा कहलाया है। अर्थात् यह कृति नाट्यशास्त्र के पारगत आचार्य और कवि की रचना है। जैसा कि विश्वनाथ ने अपनी आत्मप्रशस्ति की है उसके

१ साउथ इण्डियन इन्सक्रिप्सन्स—
भाग ६, सख्या ७२०

अनुरूप[1] इसका निबन्धन भी है। आगे इसकी कसौटी की जाती है।

सर्वप्रथम नाटिका की परिभाषा पर विचार करें—'नाटिका में स्त्री पात्रों की अधिकता होती है चार अंक होते है, ललित अभिनय होता है। इसमें नायिका कामोपचार से और प्रसाधन (शृंगार) तथा क्रोध से युक्त होती है। नायक की दूती का समावेश और सारी घटनाएँ नायिका से विशेषतः सम्बद्ध होती हैं (नाट्यशास्त्र)-दशरूपककार धनजय ने नाटिका का लक्षण इस प्रकार किया है[2]—नाटिका में रानी ज्येष्ठ और प्रगल्भ होती है, राजवंशोद्भूता, गम्भीर, मानिनी होती है। नायक-नायिका का समागम इसी के अधीन अत्यन्त कठिनता से सम्पन्न होता है। ज्येष्ठा के ही समान नायिका भी राजकुलोत्पन्ना एवं दिव्या-मुग्धा और सौन्दर्य युक्त होती है। नायिका अन्तःपुर में होनेवाले संगीत आदि कार्यक्रमों से सम्बद्ध होकर प्रायः नायक के लिए श्रुत और दृष्ट होती रहती है, नायिका के अनुराग में आबद्ध होकर नायक रानी के भय से शंकित मन प्रवृत्त हुआ करता है।' स्वयं विश्वनाथ ने भी साहित्यदर्पण षष्ठ परिच्छेद में नाटिका की परिभाषा करते हुए लिखा है—

नाटिका क्लृप्तवृत्ता स्यात् स्त्रीप्राया चतुरङ्किका।
प्रख्यातो धीरललितस्तत्र स्यान्नायको नृपः॥
स्यादन्तःपुरसम्बद्धा सङ्गीतव्यापृताऽथवा।
नवानुरागा कन्यात्र नायिका नृपवंशजा॥

1. निजजनकसमधिगतनिखिलसाहित्यतत्त्वस्य—(प्रस्तावना) चन्द्रकला

२ देवी तत्र भवेज्ज्येष्ठा प्रगल्भा नृपवंशजा।
गम्भीरा मानिनी कृच्छ्रात्तद्वशान्नेतृसंगमः॥
नायिका तादृशी मुग्धा दिव्याऽत्यन्तमनोहरा।
अन्तःपुरादिसम्बन्धादासन्नाश्रुतिदर्शनैः॥
अनुरागोनवावस्थो नेतुस्तस्यां यथोत्तरम्।
नेतातत्र प्रावर्तेत देवी त्रासेन शङ्कितः॥

—दशरूपक

सम्प्रवर्तेत नेतास्यां देव्यास्त्रासेन शङ्कित ।
देवी पुनर्भवेज्ज्येष्ठा प्रगल्भा नृपवंशजा ।।
पदे-पदे मानवती तद्वश सङ्गमो द्वयो ।
वृत्ति स्यात् कैशिकी स्वल्पविमर्शाः सन्धय पुन. ।।—
(प०।२८१ (ड)

उपर्लिखित परिभाषाओं के अनुसार नाटिका वह कृति है जिसमें नायक धीरललित, नायिका मुग्धा (नवानुरागा) हो, चार अंक हो, स्त्रीपात्रों की अधिकता हो। इन स्त्रीपात्रों में एक ज्येष्ठा रानी का होना अनिवार्य है। नायिका नृपकुलोत्पन्ना होनी चाहिए। इसमें नायक महारानी से संत्रस्त रहकर ही नायिका से अनुरागबद्ध होता है और उसी की कृपा पर दोनों का समागम सम्भव है। नाट्यशास्त्र प्रणेता भरत ने इसके अतिरिक्त नाटिका में नृत्य, गायन को भी आवश्यक बताया है। और राजोचित ढंग का त्याग भी होना निरूपित किया है। धनञ्जय और विश्वनाथ ने 'कैशिकी वृत्ति' का होना अनिवार्य कहा जबकि आचार्य भरत इस विषय में मौन हैं। और दशरूपककार ने नाटिका को 'शृंगाररस प्रधान' बताया है।

'नाट्यवेददीक्षागुरु' की कृति होने के कारण इसमें नाट्यशास्त्रीय समस्त लक्षणों का समावेश है। क्योंकि साहित्यदर्पण में उदाहरण के लिए इसे विशेष-रूप से रखा गया है। 'नाटिका में कुल चार अंक हैं। सप्त स्त्री पात्र एवं अन्य परिचारिकाऐं हैं। नायक, नृप चित्ररथदेव की प्रधान महिषी 'वसन्तलेखा' के ही माध्यम से नायक-नायिका के रागानुरागों को अंकुरित, पुष्पित और अन्त में फलित होने का अवसर मिलता है। नायिका 'चन्द्रकला' नवोढा पाण्ड्यराज की द्वितीया कन्या और वसन्तलेखा की भगिनी है। इसमें विप्रलम्भ शृंगार का सफल संयोजन एवं संघटन हुआ है। कैशिकी वृत्ति का सम्यक् निर्वाह किया गया है—नाटिका की पूर्ण परिणति चित्ररथदेव और चन्द्रकला के परिणय में है। (कैशिकी वृत्ति का समग्र क्रिया—कलाप शृंगाररस से युक्त और काम-फल प्राप्ति का आयोजक होना चाहिए)। यह कैशिकी वृत्ति चार प्रकार की होती है—नर्म, नर्मस्फिञ्ज, नर्मस्फोट और नर्मगर्भ। विदग्ध क्रीडा ही नर्म है

जिसमें प्रिय के आवर्जन का प्रयास किया गया हो। नर्मस्फिञ्ज वह है जहाँ प्रथम समागम में, यदि प्रारम्भिक अवस्था में सुख परन्तु अन्त में भय होता है। नर्मस्फोट वह है, जिसमें भावों के कतिपय अंशों के माध्यम से कुछ रस की सूचना मिले। और जब किसी प्रयोजनवश नायक प्रच्छन्न रूप में प्रवेश करे, तो उसे नर्मगर्भ कहते हैं।[1] कैशिकी वृत्ति का प्रयोग शृंगाररस में ही किया जाता है।[2] 'चन्द्रकला नाटिका' शृंगाररस प्रधान नाटिका है, इसमें 'कैशिकी' वृत्ति आवश्यक तथा उपयुक्त है। इसके चारों अङ्गों का नियोजन यथास्थान कथा वस्तु के अनुसार यथा साफल्य प्राप्त होता है। वैदर्भी-रीति-विभूषिता, प्रसाद गुण पूर्ण यह नाटिका नाट्यशास्त्रीय समस्त लक्षणों से युक्त सफल रचना है।

नाटिका का कथानक रसराज वसन्त के सरस वातावरण चित्रण के साथ प्रारम्भ होता है। ऋतुराज-वसन्त एवं रसराज शृंगार का पारस्परिक सम्बन्ध कितना समीचीन है। नाटिका का प्रारम्भ ही इस तथ्य का द्योतक है कि नाटिका शृङ्गाररस की अभिव्यक्ति में सफल है। 'विरचित विरहि कर्णज्वर वसन्त-समयम्' कहकर नाट्यकार ने नाटिका के कथानक, विषय, फल आदि का संकेत कर दिया है। और—

अमुञ्चन्नपि निजां तां कुन्दलता सुचिरमुपभुक्ताम्
चुम्बति रसालवल्ली अभिनवमधुगन्धिका भ्रमरः ॥

कहकर विश्वनाथ ने नाटिका की सारी कथावस्तु को संक्षेप में कह डाला है—राजा चित्ररथदेव कुन्दलता रूपी अपनी महारानी वसन्तलेखा को बिना

---

१ वैदग्ध्य क्रीडितनर्म प्रियोपच्छन्दनात्मकम्।
नर्मस्फिञ्ज सुखारम्भो भयान्तो नवसङ्गमे।
नर्मस्फोटस्तु भावानां सूचितोऽल्परसोलवैः।
छन्ननेतृ प्रतीचारो नर्मगर्भोऽर्थहेतवे।—दशरूपक

२ शृङ्गारे कैशिकी वीरे सात्वत्यारभटीपुनः।
रसे रौद्रे च बीभत्से वृत्तिः सर्वत्र भारती॥
—दशरूपक

त्यागे ही अभिनव-मधुगन्धिका रसालवल्ली रूपी, नवानुरागा चन्द्रकला के प्रणय-पाश में भ्रमर की भाँति आबद्ध हुए। अर्थात्—

शृंगार की विनियोजना का आभास प्रारम्भ में ही पाठक के लिए स्पष्ट हो जाता है। विष्कम्भक-योजना द्वारा चन्द्रकला की प्राप्ति की सूचना, आकाश-वाणी का कथन, कि उसका पाणिग्रहण करनेवाला राजा स्वयं लक्ष्मी का कृपा भाजन बनेगा, उससे मंत्री सुबुद्धि ने उसे अन्त करण में रख, उस (कन्या) को अन्त पुर में गोपनीय ढग से सुरक्षित किया, जिससे राजा के आकर्षण के लिए वह सहज स्थिति प्राप्ति कर सके, और उसका अभिलषित पूर्ण हो, यह सब सफलतापूर्वक प्रस्तुत कर दिया गया है। नाटिका का कथानक सक्षेप मे इस प्रकार है—

प्रथम अङ्क—चन्द्रकला के अनुराग में आबद्ध राजा चिन्तितावस्था में प्रस्तावना के पश्चात् उपस्थित होता है। उसका हृदय सर्वतोभावेन चन्द्रकला मे अनुरक्त होने के कारण उस समय सहसा आगत विदूषक का भान न कर सका। परन्तु शीघ्र ही विदूषक अपनी उपस्थिति की सूचना तथा चन्द्रकला के प्रति उसके अनुराग का राजा से कथन कर देता है। अब दोनों—राजा और विदूषक उपवन में टहलते हुए अपनी सखी सुनन्दना के साथ आगत चन्द्रकला को लता-कुञ्ज में छिपकर देखते हैं। जैसे ही चन्द्रकला माधवीलता के पुष्प तोड़ने का उपक्रम करती है, राजा स्वय को उन पुष्पों को तोड़ने के लिए सादर प्रकट कर देता है। चन्द्रकला शील-लज्जा के कारण वहाँ से जाना चाहती है, तब तक विदूषक—'प्रजा के द्वारा राजा को अर्जित वस्तु का षष्ठांश प्रदान करना धर्म है, अत चयन किए हुए पुष्पों का षष्ठांश दिये बिना यह तुम्हारा जाना उचित नहीं है,' कहकर उसे विलम्बित कर देता है। शीघ्रतावश पुन जाती हुई चन्द्रकला के हाथों से पुष्प गिर पडते है, राजा उन्हें उठाकर उसके अनुरागा भिज्ञान स्वरूप अपने हृदय से लगाता है। उसी समय महारानी वसन्तलेखा की विश्वसनीया परिचारिका रतिकला के आगमन से चन्द्रकला सुनन्दना के साथ लता कुंज में छिप जाती है। रतिकला राजा को महारानी के आमंत्रण की सूचना देकर चलने का आग्रह करती है। राजा जाना अनिवार्य समझ प्रस्थान करता

है परन्तु रहस्यवाणी द्वारा चन्द्रकला को पुनरागमन के लिए आश्वस्त भी कर जाता है।

द्वितीय अङ्क—राजा, महारानी के साथ उपवन में विचरते हुए भी अपने हृदय को चन्द्रकला से दूर करने में सर्वथा असमर्थ है। अचानक एक कोलाहल सुनायी पड़ता है कि भयानक व्याघ्र उपवन में प्रविष्ट हो गया है। राजा तुरन्त महारानी को अन्तःपुर में परिचारिकाओं-सहित जाने का निदेश कर स्वयं उस व्याघ्र का वध करने के लिए सन्नद्ध होकर चलता है। परन्तु शीघ्र व्याघ्र विदूषक के रूप में परिवर्तित हो जाता है। यह रसालक का स्वाग केवल महारानी को हटाने और राजा-चन्द्रकला का समागम कराने के लिए जानबूझ कर किया गया था। वह तुरन्त राजा को चन्द्रकला से मिलने के लिए प्रमदोपवन के एकान्त प्रान्त में ले जाता है। वहाँ अपनी सखी सुनन्दना-सहित चन्द्रकला पहले से ही उपस्थित थी। सखी उससे राजा के अनुराग को असत्य कहकर उपहास द्वारा उसके विरहताप को उत्तेजित कर रही थी कि राजा प्रकट होकर उसे सान्त्वना देने लगता है। तभी व्याघ्रवध से प्रसन्न महारानी का राजा के पूजनार्थ आगमन जानकर चन्द्रकला भयभीत सी शीघ्रता में चली जाती है। जाते हुए उसके हाथ से अँगूठी गिर पड़ती है। राजा उस अँगूठी को उठाकर विदूषक को इस विचार से दे देता है कि वह इसे अपने वस्त्र में छिपाये रहे। तब तक महारानी वसन्तलेखा वहाँ पहुँच जाती है। राजा की अर्चना होती है। विदूषक महारानी से पारितोषिक की याचना करता है। रानी उसे अपना हार दे देती है। वह तुरन्त गले में हार और अंगुली में चन्द्रकलावाली अँगूठी पहिनकर 'मैं कितना सुन्दर लग रहा हूँ,' कहता है। अँगूठी को महारानी पहिचान लेती हैं। और रुष्ट होकर अन्तःपुर में चली जाती है। विदूषक राजा से महारानी को प्रसन्न करने का वचन देता हुआ अपनी भूल स्वीकार करता है।

तृतीय अङ्क—विदूषक को जब ज्ञात हुआ कि चन्द्रकला महारानी द्वारा सुनन्दना के घर में छिपा दी गयी है तो वह सुनन्दना से ही गुप्त मंत्रणा करके प्रमदवन के मणि मण्डप में रात्रि के समय राजा का सम्मिलन कराने की योजना बनाता है। परन्तु असावधानीवश इस रहस्य का भान वह महारानी को परि-

के कारण प्रदान करने का पूर्व से ही निश्चय किया था। अतः अब आप महारानी की सहमति से उसके साथ पाणिग्रहण कर लें।

समाचार को सुनकर, तुरन्त मंत्री सुबुद्धि को बुलाया जाता है। वह समस्त वृत्तान्त बतलाता है। वह दिव्यवाणी की चर्चा कर अपनी सम्बन्धिनी के रूप में अन्तःपुर में सुरक्षित कराने का अपना प्रयोजन भी बतला देता है। उसके पश्चात् चन्द्रकला उपस्थित की जाती है। पाण्ड्य देश से आये दोनों बन्दी अपने महाराज की उस द्वितीया कन्या को देखते ही पहचान लेते हैं। महारानी वसन्तलेखा को अब अपने कृत्यों पर पश्चात्ताप होता है। अस्तु, प्रायश्चित्त सा करती हुई वह स्वयं राजा के साथ उसका पाणिग्रहण सम्पन्न कराती हैं। पाणिग्रहण के पश्चात् ही वहाँ महालक्ष्मी प्रकट होकर अभीष्ट वरदान देती हैं और अपने दर्शन से सभी को कृतार्थ करती हैं। भरतवाक्य के साथ नाटिका समाप्त होती है।

पात्र

राजा चित्ररथदेव—नाटिका के धीर ललित नायक हैं। 'साहित्यदर्पण' और 'दशरूपक' में निरूपित उन सभी गुणों का समावेश चित्ररथदेव' में है जो नाटिका के नायक के लिए आवश्यक वर्णित किये गये हैं।[1] ये प्रशस्त कुलोद्भूत हैं, शत्रुवर्ग को पराजित कर, निश्चिन्त, सुखपूर्वक राज्य करते हैं। चोल, कोशल, अंग, हूण, भोज, काञ्ची, मत्स्य, म्लेच्छ, लाट, कर्णाट आदि के राजा अपने शौर्य एवं प्रताप का उसके महाप्रताप में विलय कर चुके थे। राज्य की चहुँओर सीमा पर उसका यशस्वी प्रहरी बना रहता, कहीं, किसी भी प्रकार का शत्रु, द्रोह, आदि का भय न था। 'समस्त शत्रुओं का विनाश करके, सर्वत्र राज्यशासन-संपालनार्थ निपुण मंत्रिगणों की नियुक्ति कर देने के कारण, आनन्द विहार-कौतुक आदि ही जिसकी जीवनचर्या हो, ऐसे राजा के लिए राज्य—शासन की

1. अदर्पितो धीरललितः स्यात्कलापरो नृपः ॥
—सा० द०/परि ३—२८१
निश्चिन्तो धीरललितः कलासक्तः सुखी मृदुः ॥
—दशरूपक/प्रकाश ३

मात्र चिन्ता नही हो सकती ।'—प्रथमाक (विदूषक) सम्पूर्ण नाटिका म एक थल ऐसा नही है जहाँ यह आभास मिले कि राजा राज्य में शासन, शान्ति को सुदृढ एव स्थापित करने की चर्चा करता हो, वह अपने सुहृद रसालक प्रक) के साथ सर्वदा आनन्दोल्लास, हास, परिहास एव 'लास में मग्न ा है ।

वह धीर, गम्भीर, कलासक्त मृदु स्वभाव का पुरुष है। सगीत, कला, काव्य, क का प्रेमी होने के कारण राजा ऐसे समस्त कलाकारो को उचित आदर सम्मान देता, उनकी कलाकृतियो को समादृत कर उसके प्रसार तथा विकास ोगदान देता था । उनके मत्री सुबुद्धि का कथन—'देवो से अभिनन्दित इन्द्र समान, विद्वानो से प्रशसित तथा अभिनन्दित, चन्द्र के समान समग्र कलाओ ास्पद, सूर्य के समान अन्यो के प्रताप को निस्तेज करने वाले, शिव-सी ूति से अलङ्कृत महाराज विराजमान है । (अङ्क ४/६) । उसकी कला प्रियता र विचक्षणता तथा परख के भावाभिव्यजना के व स्थल, जहाँ वह अपनी प्रिया कला के सौन्दर्य अथवा स्वभाव का कथन करता है निस्सन्देह एक कवि- य का साक्ष्य देते है—'इसके दोनो चरण अहर्निशि विकसित कमल के समान, कदली-स्तम्भ-सदृश, कटि भाग जैसे लावण्य के समुद्र में निमग्न द्वीप हो, तो उरोज उन्मत्त गज के जैसे कुम्भ हों और रत्न सा ऊपर की ओर उठाये हो ा मुख चन्द्रबिम्ब की भाँति शोभित हो रहा है ।' (अङ्क १/१३) इस लावण्य शि में निमग्न राजा के मनोगत भाव देखिए—

> दर प्रकाशे कुचकुम्भमूले द्रुत निपत्य द्रुतकर्युदामे ।
> लावण्यपूरे विनिमग्नमुच्चैर्न मे कदाचिद बहिरेति चेत ।।
>
> —(प्रथमाक/१५)

'मेरा हृदय उसके स्तोकोन्नत, तप्त स्वर्ण-सदृश आभासित उरोज—कुम्भों मूल प्रान्त के सुन्दर लावण्यपूर में इस प्रकार निमग्न हो गया है कि उससे नेयन्त्रना मेरे लिए दूभर हो रहा है ।' कितना रसिक भाव है ।

उसकी धीरता, गम्भीरता एव कुलीनता का उत्कृष्ट परिचय तो यही है कि नवानुरागा चन्द्रलेखा में अनुरक्त मन भी वह अपनी महारानी वसन्तलेखा के प्रति

अपने सम्मान, विनम्रता, सहनशीलता, स्नेह आदि के भावों में किसी भी में न्यूनता नहीं आने देता। यद्यपि वह चन्द्रकला की प्राप्ति में व्यवधान हो रही तथापि वह उसकी आकांक्षाओं पर कभी आघात नहीं होने देता, भरी महारानी को प्रसन्न करने के भी सारे प्रयास वह करता है। रसालक द्वारा मणिमन्दिर में पहुँचने का रानी द्वारा आमन्त्रण वह तुरन्त स्वीकार कर वह उपस्थित हो जाने के लिए उसके साथ उपस्थित होता है। दूसरे अंक में वह वसन्त लेखा के साथ रात्रि में स्वच्छ ज्योत्स्ना-स्नात सरोवर-कमल का सौन्दर्य देखता है, उसके कमल-मुख की प्रशंसा करता है। यह सब उसके मृदु-स्वभाव का ही परिणाम था।

राजा चित्ररथदेव नाटिका के लिए सर्वथा उपयुक्त नायक है। यही कारण है कि नाटिका के अन्त में लक्ष्मी ने उसके दो अभीष्टों के पूरा होने के लिए अपनी स्वीकृति दी है—

आचन्द्रतारकं मातर्मा विमुञ्च कुलं मम।
भूयादविरता भक्तिस्त्वयि मेऽव्यभिचारिणी॥

—अङ्क ४

'जननि! जब तक आकाश में चन्द्र और तारिकाओं का अस्तित्व रहे, तुम मेरे कुल का त्याग मत करो और मुझे सदा अपना सेवक, दास स्वीकार करो।

चन्द्रकला—'नवानुरागा कन्यात्र नायिका नृपवंशजा' (सा० द० । परि० ६) के अनुसार चन्द्रकला नाटिका की सर्वगुण-सम्पन्ना नायिका है। यह पाण्ड्येश्वर की द्वितीया कन्या और महारानी वसन्तलेखा की कनिष्ठाभगिनी है (यत् किल वनविहारावसरे देव्याः समानोदरा अभा काचित् कुमारिका केनचिदपहृत्य नीता/अंक ४) पाण्ड्येश्वर के यहाँ से आए बन्दिगणों के यह कहने पर महारानी ने आँखों में आँसू भरकर कहा—बहिणि! कुदो उण वट्ठेदि (भगिनि! तुम अब कहाँ हो?) इसके पूर्व प्रथम अंक प्रस्तावना में मंत्री सुबुद्धि का कथन— राजवंशजेयमिति कथयित्वा मत्परितोषकाङ्क्षिणा मदन्तिकं प्रहिता' भी उसके नृपकुलोत्पन्न होने की पुष्टि करता है।

'नायिका तादृशी मुग्धा दिव्याचातिमनोहरा' नाटिका की नायिका को

मुग्धा, दिव्य और सौन्दर्यवती होना चाहिए। इसके अतिरिक्त अन्त पुर से सम्बद्ध होने के कारण नायक के लिए श्रुत तथा दृष्ट होनी चाहिए, साथ ही नायक के ति इसका अनुराग प्रारम्भ होकर उत्तरोत्तर बढते रहना चाहिए। (दशरूपक। काश-२) इस निरूपण के अनुसार 'चन्द्रकला' सर्वथा शास्त्रीय लक्षण से युक्त ायिका है। वह सुन्दर है, लज्जावती, मृदुस्वभावा, यौवनमदविकारपूर्ण, ुग्धा है। अन्त पुर से सम्बद्ध है—'सुबुद्धि —मम वशजेय सखीपदे स्थापयित्वा ारिपालिनीयेति सादर समर्पिता देव्या' (महारानी ने ही अन्त पुर में अपनी सम्बन्धिनी कहकर रखवा दिया है।) मत्री सुबुद्धि ने रानी के सानिध्य में सप्रयोजन रखवाया, जिससे राजा की दृष्टि उस पर पडे, दोनो का अनुराग हो, फिर अन्त में परिणय सम्भव हो सकेगा। क्योंकि—

यस्तु भूमिपतिर्भूमौ पाणिमस्या ग्रहीष्यति।
लक्ष्मी स्वयमुपागत्य वरमस्मै प्रदास्यति॥

—प्रथमाङ्क /६

उसके रूप लावण्य के सम्बन्ध में भी स्वय मत्री ने 'निरुपम सौन्दर्य-ंदमीरिव' कहकर अनिन्द्यसुन्दरी के रूप में स्वीकार किया है। इसके अतिरिक्त सकी सुन्दरता का वर्णन राजा चित्ररथदेव ने, और पाण्ड्येश्वर के यहाँ से आगत बन्दिगणों ने भी स्पष्टतया किया है—'भुवनो का अलकार, विधाता के निर्माण-कौशल का विकास, युवकों के नेत्रो की मादकस्थली एव समस्त सुन्दर-लक्षणो की भूमि थी (अक ४/७)। राजा ने उसके अनुपम सौन्दर्य का कथन इन शब्दो में किया है—

सा दृष्टिर्नवनीलनीरजमयी वृष्टिस्तवप्यानम
हेलामोहनमयमत्रजनिताकृष्टिर्जगच्चेतस ।
सा भ्रूवल्लिरनङ्गशाङ्र्गधनुषो यष्टिस्तयास्यास्तनु—
र्लावण्यामृतपूरपूरणमयी सृष्टि परा वेधस ॥

—अक १/७

अन्त पुर में रहने के कारण चन्द्रकला से राजा को, राजा से चन्द्रकला को,

सहज अनुराग होता है। और वह अनुराग शनै शनै वर्द्धित होकर अन्त मे दोनो के परिणय-सूत्र-बन्धन के रूप में प्रकट हुआ। नायिका चन्द्रकला नाट्य शास्त्रीय लक्षणो[1] के अनुसार 'मुग्धा' श्रेणी की नायिका है। 'नववया', नव कामनावती, रतिप्रतिकूला और क्रोध में कोमल (मुग्धानववय कामा रतौ वाम मृदु क्रुधि)—दशरूपक प्रकाश ३। अर्थात् जिसकी यौवनावस्था का प्रथम चरण हो, काम-भावो का प्रथम प्रवेश हो रहा हो, रति में अरुचि सी रखती हो एव क्रुद्ध होने पर सहज में ही प्रसन्न हो जाय उसे मुग्धा कहते हैं। चन्द्रकला, महारानी वसन्तलेखा की कनिष्ठा भगिनी होने के कारण नववयस्का तो है ही। प्रथमाङ्क के अरुजद्वन्द्वमहर्निश—शीतद्युतेर्मण्डल' से उसके नवयौवना होने के पूर्ण लक्षण स्पष्ट हैं। और राजा के 'निश्चित ही इसके भी अन्त करण में काम भावो का विकार अंकुरित हो रहा है' (नूनमियमन्तर्निहित मदनविकारा वर्तते—अक १) कथन से वह नवकामवती है। राजा के प्रथम दर्शन के पश्चात् ही अनुराग भाव जो उत्पन्न हुआ वह इतना प्रगाढ हो गया कि उसे राजा का वियोग असह्य होने लगता है। अननुभूत वियोग-ताप-दु ख से वह अत्यन्त ही व्याकुल हो उठती है—'वियोगावस्था का यह प्रभाव मृगनयनी चन्द्रकला परिपक्व लवली फल के सदृश पीतवर्णा क्षीण हो रही है, केशराशि उरझ गयी है (क्योंकि प्रसाधन करने का अवसर ही नही है) अपने शरीर को कोमल नलिनीपत्र-शय्या पर रखे हुए है—(अक २।११)।

वह शीलस्वभावा अत्यन्त लज्जावती भी है। अपनी सखी सुनन्दना के साथ विचरती हुई जब भी राजा को वह देखती है, उसका मुख नम्र हो जाता है। स्वय उधर देखना नही चाहती और सखी के वार्तालाप में भी कोई विशेष रुचि नही दिखाती वह असगत सा उत्तर देती है—

---

१. प्रथमावतीर्ण यौवनमदनविकारा रतौ वामा।
कथिता मृदुश्च माने समधिकलज्जावती मुग्धा॥
—सा० द०। परि० ५

हसति परितोषरहितं निरीक्ष्यमाणापि नेक्षते किमपि।
सख्यामुदाहरन्त्यामसमञ्जसमेवोत्तरं दत्ते ॥
अंक १।१४

विदूषक रसालक द्वारा चयन किए गये पुष्पों का पश्चाश राजा की सम्पत्ति होने के कारण प्रदान करने की बात कही जाने पर वह वहां से तुरन्त हट जाना चाहती है। राजा के सामने वह रुकने में असमर्थ थी परन्तु अनुराग भावाधिक्य बलात् उसके हाथ के पुष्प गिर पड़ते हैं। ये सारे क्रिया-कलाप क्या उसके अनुरागवती, लज्जाशीला होने की पुष्टि नहीं करते। अस्तु। यह मृदुलभावा, कोमल स्वभावा होते हुए भी संगीत एवं चित्रकर्म आदि में निपुण नहीं है। परन्तु रूप लावण्य की भूमि होने के कारण वह अपने पाणिग्रहण से सनाथ राजा चित्ररथदेव को महालक्ष्मी का कृपापात्र बना देती है।

उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि नाटिका की नायिका चन्द्रकला नाट्यशास्त्रीय लक्षणों से युक्त सर्वगुण सम्पन्ना है।

वसन्तलेखा—वह पाण्ड्य नरेश की ज्येष्ठा कन्या, महाराज चित्ररथदेव की प्रधान महिषी है। उसी के अधीन नायक-नायिका (राजा और चन्द्रकला) का पूर्णतया सम्मिलन हुआ। 'तदिदं द्विजनिवेदितं यदा च वसन्तलेखा अनुजानाति तदा मदनुमत एव गृहणातु पाणिमस्या देव' इति। (पाण्ड्याधिपति के बन्दिगणों ने कहा—जिसका समाचार ब्राह्मणों ने भेजा था, उस कन्या के साथ आप, यदि वसन्तलेखा अनुमति दे तो पाणिग्रहण कर लेने की मेरी स्वीकृति है।'—अंक ४) वस्तुतः समस्त कथानक देवी वसन्तलेखा में ही केन्द्रित है, वही नायक-नायिका के पारस्परिक अनुराग के अंकुरण, पल्लवन, एवं अन्त में फलित कराने का श्रेय धारण करती है।[1] नायक एवं नायिका दोनों ही इसमें भयभीत,

---

१ सम्प्रवर्तत नेतास्यां देव्यास्त्रासेन शङ्कित।
● ●
पदे पदे मानवतीतद्वश संगमो द्वयो ॥
—सा० दर्पण।परि० ६

सशंक रहते हैं। जैसा कि नाट्यशास्त्रीय देवी को होना चाहिए, सभी गुणों
यह सम्पन्न है। वह प्रगल्भ, मानवती, नृपवंशजा है। वह प्रौढ़ा युवती है
रागानुराग के भावानुभावों के प्रकट गोपन आदि क्रिया-कलाप में सर्वथा निपुण
है। रात्रि की चन्द्र-ज्योत्सना में राजा के साथ प्रमदोपवन में विचरती हुई उसका
कथन देखिए—एतेन किल अमृतमयूखेन दीर्घिकाकुमुदिन्याः किसलयकरे स्वयमेव
करोऽर्पितो वर्तते। तदिदानीं एतयोः परिणयार्थं तव सन्निधानमात्रं मां
काङ्क्षते—अंक २ (दीर्घिका में स्थित कुमुदिनी का कर स्वयं ही सुधारश्मियों
आलिंगित हो रहा है, अतः यहाँ तो इनके विवाह के लिए मात्र आपकी उप-
स्थिति की ही मुझे आवश्यकता है।) राजा एक बार उसके मुख-कमल
प्रशंसा करके छलने का प्रयास करता है परन्तु उसके उलाहना देने पर
'जानामि यथा किल ते असत्य एव सकलोऽपि अस्मास्वनुरागबन्ध'—वह इस
इच्छा की पूर्ति विवश हो करता ही है।

व्याघ्र-जनित कोलाहल से भयभीत होकर 'आश्चर्य! कथं व्याघ्र!' रा
का आलिंगन कर उठती है। राजा 'प्रिये न भेतव्यम्, न भेतव्यम्' कह
उसको अन्त पुर में जाने का आदेश देता है और स्वयं उसका (व्याघ्र) वध क
के लिए प्रस्थान करता है। व्याघ्र का स्वांग रसालक की योजना थी।
योजना का भेद किसी को मालूम न था। अन्त में कृत्रिम व्याघ्र वध किया हु
बताया गया। व्याघ्र वध से हर्षित महारानी आकर राजा की अर्चना करती है
वही महारानी, जब माधविका द्वारा यह जान लेती है कि रसालक, राजा
चन्द्रकला से मणिमण्डप में मिलन करायेगा, वह स्वयं भी वहाँ पहुँच जाती है
चन्द्रकला, सुनन्दना, रसालक तीनों को वह बन्दी बनवाकर कारावास का दण
देती है (अंक ३) उसे अपने प्रिय का अन्य रमणी के साथ प्रणय-निबन्धन स्वी
कार नहीं है।

अन्त में इस महारानी वसन्तलेखा का चरित्र कितना उज्ज्वल होकर प्रक
होता है कि वह स्वयं चन्द्रकला का राजा के साथ परिणय कराकर परमानन्द
और सन्तोष का अनुभव करती है—'महाराज मेरे माता-पिता की और मेरी
अनुमति से आप इसका पाणिग्रहण करें। (आर्यपुत्र! अस्याः पितोरस्माकमनु-

सत्या करें इदानीं गृहाणैताम्'—अंक ४)। इस प्रकार हम देखते हैं कि वसन्त सेना नाटिका की सर्वगुणोपेता ज्येष्ठा नायिका है। नायक एवं नायिका के पश्चात् वस्तुत इसी का नाटिका में महत्व है।

रसालक—रसालक राजा चित्ररथ देव का सुहृद-विदूषक है। यह राजा के प्रत्येक कार्य में (चाहे वह प्रणय-व्यापार हो अथवा मनोरञ्जन) सहायक के रूप में नाटिका के प्रारम्भ से अन्त तक उपस्थित है। प्रकृत्या यह वाचाल, परिहास-प्रिय, वाक्पटु एवं स्वाभिमानी मूर्ख है। समयानुसार यथोचित वेशधारण, शरीर प्रदर्शन-क्रिया सम्पादन आदि में दक्ष, कलह-रति दोनों में रुचि रखने वाला, यथावसर पठित वाणी-कुशल है। शास्त्रीय लक्षणों एवं आचार्यों के निर्देशानुसार ही इसका नाम रसालक है[1]। वह ब्राह्मण के सभी गुण, भोजन, पारितोषिक आदि ग्रहण करने में सदा उत्सुक रहने वाला, सुस्वादु, मिष्ठान्न का अत्यधिक प्रेमी है—उसे आम्रप्रसून श्रीखण्ड की भाँति और अशोक के गुच्छे मोदक-सदृश प्रतीत होते है। (अङ्क १।१२)। राजा के साथ विचरते हुए वह प्रकाशित चन्द्रमा के मण्डल और बिखरती किरणों की उपमा किस प्रकार नवनीत पिण्ड और दुग्ध धारा से दे रहा है[2]।

विदूषक राजा का सर्वत्र सहायक है। जब उसने चन्द्रकला से राजा के सम्मिलन का अवसर सहज में प्राप्त होना असम्भव देखा तो सपरिवार महारानी को हटाने का तुरन्त उपाय ढूंढ निकाला, उसने तुरन्त व्याघ्र का स्वांग निर्मित किया और सफलता भी मिली। वह एक व्युत्पन्नमति भी है। किसी भी बात का अकाट्य उत्तर देने में वह कभी नहीं चूकता। उसके प्रत्येक कथन में परिहास का सम्मिश्रण अवश्य रहता है। 'इदानीमेतस्य प्रिय निवेद्य सकलानामपि नभि वराणां शिरसि चरण दास्यामि।' (अंक ३) कितना व्यञ्जनापूर्ण वाक्य है, उसके

---

1. कुसुमवसन्ताद्यभिध कर्मवपुर्वेशभाषाद्यैः।
हास्यकर कलहरति विदूषक स्यात् स्वकर्मज्ञ ॥ सा०द० । परि०

2 एष शशधरबिम्बो दृश्यते हैयङ्गवीनपिण्ड इव।
एते अस्त्र मयूखा पतन्ति आशासु दुग्धधारा इव ॥ अंक २।८

दक्षता का पूर्ण परिचय मिलता है। 'गर्भदास्या सुनन्दनाया. कठोरस्तनभरेणा-पीडन गुरुक मेऽङ्ग बाधते (अंक ३) महारानी की परिचारिकाओं को वह 'गर्भ-दास्या, दुहितर दास्या दुहितर' कहने का अभ्यस्त था। एक कथनोपकथन देखिए—

राजा—सखे किमन्यत्। अनया खलु वध्वा निजगुणसंघर्भूंश समाकृष्ट चेतस प्रसभ हृदये दिवानिशं मे भवति मदनानलो ज्वलित।

विदूषक—आश्चर्यम्। तदविलम्बित परिसृत्य दीर्घकोदधृतसलिलकुम्भेन निर्वाप्यतामेष वह्नि।

रसालक वस्त्र और आभूषणो का भी परम प्रेमी है। जब राजा ने चन्द्र-कला की अँगूठी उसे वस्त्रो मे छिपाने के लिए दी तो उसने रख लिया। फिर जब महारानी। उसके 'किमिति न ददाति मे पारितोषिक देवी' कहने पर हार निकालकर देती है तो वह तुरन्त उसे गले में एव चन्द्रकला की अँगूठी अँगुली में पहिनकर कहता है—'दास्या दुहितर प्रेक्षध्व मे सौन्दर्यम्'।

इसके अतिरिक्त नाटिका में अमात्य सुबुद्धि, सुनन्दना, रतिकला, माधविका एव पाण्ड्यदेशागत बन्दियो का नाम उल्लेखनीय है।

सुबुद्धि—यह महाराज चित्ररथ देव का मत्री, राज्य-शासन का सचालक है। नाट्यशास्त्राचार्य के अनुसार, धीरललित नायक की सिद्धि का श्रेय उसके मत्री पर निर्भर करता है।[1] नाटिका का नायक चित्ररथ देव धीरललित नायक है। उसकी सफलता वस्तुत मत्री सुबुद्धि की कार्य कुशलता से ही है। वह नीति पटुता के साथ शासन का सचालन करने वाला है। राज्यपालननियुक्तधी सचिव (प्रथमाक)। यही नही वह सदा राजा के हितो के चिन्तन एव साधन मे रत दिखाई पडता है। यद्यपि उसकी उपस्थिति नाटिका के प्रथम और चतुर्थ अक के अतिरिक्त कदापि नही हुई है। तथापि उसका महत्त्व नाटिका के समस्त कार्य व्यापार सम्पादन म न्यून नही कहा जा सकता। विक्रमाभरण द्वारा प्राप्त कन्या

१. मत्रिण ललित शेषा मत्रिस्वायत्त सिद्धय।

—दशरूपक। द्वितीय प्रकाश

को देख और दिव्यवाणी, यन्तु भूमि....प्रदास्यति का श्रवण कर उसने तुरन्त चित्ररथदेव की हित कामना से भी वह उनकी पाणिग्रहीता बन सके, तुरन्त—'मम वशजेयं समीपदे—समर्पिता देव्या' रानी के अन्त पुर में गोपनीय रीति से सरक्षित कर दिया। पाण्डयेश्वर के बन्दिगणों के आगमन पर जब उससे पूछा गया तभी उसने इस रहस्य का उद्घाटन किया।

सुनन्दना—महामात्य सुबुद्धि की विश्वसनीया दासी है।

रतिकला—महारानी वसन्तलेखा की एकमात्र विश्वस्ता दासी है। उसकी सारी आस्था रानी में ही है।

माधविका—अन्त'पुर की एक परिचायिका है।

बन्दीगण—पाण्ड्येश्वर के यहाँ से आगत बन्दिगणों का कार्य उनके अनुरूप श्लाघ्य है।

साहित्यिक-सौष्ठव

'चन्द्रकला' की नाटकीय-समीक्षा और उसका नाट्य वैशिष्ट्य हम लिख चुके हैं। नाट्य-वैशिष्ट्य के ही साथ इस कृति में काव्य-सौष्ठव को भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता। विश्वनाथ जी ने दो काव्यों की भी रचना की थी, इससे उनकी काव्य-प्रतिभा सहज ही सिद्ध है। इसके अतिरिक्त साहित्य-दर्पण के तृतीय, षष्ठ, सप्तम, अष्टम, और दशम परिच्छेदों में इसके कुल तेरह छन्द, रस, ध्वनि, गुण अलकार आदि के विवेचन प्रसङ्ग में उद्धृत किये गए हैं। अत हम कह सकते हैं कि यह नाट्यकृति साहित्यिक दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है। प्राञ्जल भाषा, वैदर्भीरीति और कैशिकी वृत्ति सनाथ इस नाटिका में, प्राकृतिक उपादानों, नायक-नायिका के मनोगत भावो के चित्रण सहज ही हमें एक रस-भाव-सिद्ध कवि का स्मरण कराते हैं। गद्य और पद्य दोनो में विश्वनाथ जी सफल हैं।

प्राकृतिक चित्रण पढते समय हृदय प्रकृति के साथ तादात्म्य सा स्थापित करने के लिए विवश हो उठता है। प्रथम अक का 'लता कुञ्ज गुञ्जन्.. दिशि-दिशि' छन्द पढते समय वसन्तकालीन मलयानिल की मन्द-गति का आभास और उससे जनित उन्माद-लास सा प्रकट होने लगता। प्रतीत होता है कि मलय-मारुत

एव रस-रसिक की भाँति जन-मानस को मधु-मदिर भावों से ... रहा है। उदीयमान् चन्द्रमा, उसकी ज्योत्स्ना एव रात्रि के प्रसार ... वर्णन नितान्त मनोरम है। द्वितीय अक मे उदय होते हुए चन्द्रमा को ... राजा अपनी महारानी वसन्तलेखा से उसका वर्णन करते हुए उसे ... के सदृश शुभ्र, आकाश-सागर का राजहंस आदि सज्ञाओ से अभिहित करता है। 'विरहिजनो के लिए कृतान्त के समान, कर्पूरचूर्ण सदृश श्वेत ... करनेवाला वामोन्मादक, कुमुदकुल को जाग्रत करनेवाला, आकाश-सागर में ... हस के समान चन्द्रमा उदय हो रहा है।' (२।१) ऐसे चन्द्रमा की किरणों ... प्रसार जब होने लगा तो कमलदल रूपी हृदय खिलने और घनतिमिर ... विचलित होने लगा—

सह कुसुमकदम्बै कामपुल्लासयन्त
सह घनतिमिरोघै धैर्यमुत्सारयन्त ।
सह सरसिजषण्डै स्वान्तमामीलयन्त
प्रतिदिशममृतांशोरशव सचरन्ति ॥

चन्द्रमा उदय हो रहा है—उसके प्रभाव से काम भावनाएँ उसी प्र... विकसित, उल्लासित हो रही है जैसे पुष्पो म विकास, उसकी किरणो के प्रसार ... जैसे तिमिर का नाश हो रहा है, उसी प्रकार रसिक मानस से धैर्य विनाश ... जाता है, कमलदलो की भाँति हृदय सिकुडने लगे हैं।' रात्रि की युवावस्था ... समागमकाल इस प्रकार व्याप्त हो जाता है कि समस्त जगती की वस्तुएँ उसके श्यामवर्ण में रंगी सी अपने पृथक अस्तित्व को भी उसम विलीन कर देता है। दूसरा वचन कवि निम्नाङ्कित शब्दो म कर रहे है —

आस्तीर्णा इव नीलचेलनिचयै पूर्णा इवेन्दीवरै—
रालीर्णा इव धूर्जटेर्मृगमदै पूर्णा इवाभ्रंलवै :।
सन्ध्याते विमुद्रा लोचन पथ भेद न मुष्णीयुनै—
रासादिनतमसा तमालमलिनच्छायेन सर्वा दिश ॥

—वही २।१३

नायिका के सौन्दर्य-वर्णन एवं उसके विरहावस्था वर्णन में उसके हृदयगत

को परखने और उनका अकन करने में भी विश्वनाथ जी की काव्य-
ा अत्यन्त ही पर्यवेक्षणी होकर प्रकट हुई है। और नायक चित्ररथदेव के
भिभूत-मानस की गति को भी उन्होंने बडी ही सावधानी से पहिचाना है—

वरप्रकारो कुचकुम्भमूले मुक्तं निधाय स्तनकुं रामे।
लावण्यपूरे विनिमग्नपुच्चनं मे कदाचिद् बहिरेति चेत्‌ ॥

—प्रथम ।१४

' राजा चन्द्रकला की लावण्य सम्पदा पर इस प्रकार मुग्ध हो गया है कि
ने हृदय को उससे विरत करना उसके लिए नितान्त दुर्भर हो गया। यही
रण है कि चन्द्रमा की किरणें उसके लिए अग्नि-स्फुलिंग सा बरसा रही हैं—
स मृगनयनी से वियुक्त होने के कारण मेरा हृदय अत्यन्त ही सतप्त हो उठा है
ौर यह चन्द्रमा अपनी किरणों के व्याज से मेरे ऊपर अग्नि के कणों की वरसा
रने लगा है' (प्रक २।२)। इसके अतिरिक्त तृतीय अक का छन्द १८ और
तुर्थांक का प्रथम छन्द भी (इस विषय का) काव्य-सौष्ठव की दृष्टि से
ल्लेखनीय है।

चन्द्रकला के सौन्दर्य का जो कथन राजा के द्वारा कवि ने किया है, वह
स्तुत साहित्यिक-पाठक के लिए हृदयावर्जक है—

प्रसादवन्तश्चञ्चद्विकचनवनीलाब्जयुगल—
स्तलस्फूर्जत्कम्बुर्विलसदलिसघात उपरि।
विना दोषासङ्गं सततपरिपूर्णाखिलकल
कुत प्राप्तश्चन्द्रो विगलितकलङ्क सुमुखि ! ते ॥

—१।१७

नायिका के मुख-सौन्दर्य का वर्णन कवि कितनी तन्मयता के साथ अपनी
सूक्ष्म अन्वेषणी दृष्टि से निरखकर कर रहा है—हे सुमुखि ! यह लोकोत्तर
चन्द्रमा तुम्हे कहाँ से प्राप्त हो गया ? इस के मध्य में दो नील कमल (दो नेत्र)
शोभा पा रहे हैं उसके नीचे शख और उसके ऊपर भौरो का दल मँडरा रहा है
(श्याम वर्ण केशराशि)। और यह चन्द्रमा रात्रि के बिना ही समस्त कलाओ से
पर्ण ज्योतिमान है। इसमे भी मनोहारी वर्णन देखिए—

बिम्बस्यासुकृतेन दन्तवसनं मत्तेभकुम्भद्वयं—
स्यापुण्येन पयोधरौ कुवलयस्याकर्मणा चक्षुषी ।
इन्दोर्भाग्यविपर्ययेण वदनं कुन्दावलेरेनसा—
दन्ताली कदलीतरोश्च दुरितेनोरुद्वयं निर्मितम् ॥

३।१६

और किस प्रकार सिंह अपनी क्षीण-कटि को पराजित समझकर क्रोधाभिभूत हो युवती कुच-कलशों के सदृश गजराज के गण्डस्थलों को विदीर्ण करता रहता है—

मध्येन मध्यं तनुमध्यमा मे पराजयं नीतवतीति रोषात् ।
कण्ठीरवोऽस्या कुचकुम्भतुल्यं मत्तेभकुम्भद्वितयं भिनत्ति ।

३।१७

नाटिका नाट्यशास्त्रीय लक्षणों के अनुसार शृंगाररस प्रधान है। इसमें विश्वनाथ जी शृंगाररस की निष्पत्ति कराते एवं उसके संयोग-वियोग दोनों पक्षों का सफल चित्रण करने में सिद्ध प्रतीत होते हैं। नायक-नायिका के हृदयों में पारस्परिक अनुराग-भावों का अंकुरण, प्रस्फुटन-पल्लवन उचित रीति और अप्रत्याशित गति में होता है। दोनों ही आतुर होकर निज स्थिति को विस्मृत करने लगते हैं। सुधा-शीतल चन्द्र की रश्मियाँ दोनों के लिए अग्नि-कण की बरसा करती प्रतीत होती हैं। राजा अशोक से निवेदन कर रहा है कि मेरे परिताप को शान्त करके अपने नाम को सार्थक करो—

त्वमशोक शोकमपहृत्य मामकं
[illegible] तावदाशु निजनाम सार्थकम् ।
अवलोकितात्र भवता यदि सा
क्व नु विद्यते ननु निगद्यतां तदा ॥

—३।८

इसी प्रकार चन्द्रकला का कथन देखिए—'सखि अलमिदानीमेतैः। पुनः पुनरपि अङ्गेषु हलाहलं वर्षतोऽमुष्माद्-दुष्टरजनीकराद् रक्ष विलुमरणाहं प्रिय-सख्या'—(२ अंक)। काव्य सौष्ठव की दृष्टि से द्वितीयांक में व्याघ्र वर्णन का

भी छन्द कम महत्वपूर्ण नहीं है। वर्णन से व्याघ्र आंगों के समक्ष हो सारी क्रियाओं को सम्पादित सा करता प्रतीत होता है—

उर्वस्यैक पाद विटपिषु मुहु स्कन्धकषणात्
हृतव्योमाभङ्ग शकुनिकुलकोलाहल भरः।
परिधामञ्जृम्भ प्रकटरसनो व्यात्तवदन
तरक्षुः क्रुद्धोऽयं क्षिपति मृगयूथानि परित ॥

—२।६

व्याघ्र क्रुद्ध है। अपने एक पैर को उठाकर वृक्षों से अपना कन्धा बार-बार रगड़ रहा है, उसके गर्जन, स्वर से आकाश फट-सा रहा है। उसकी गर्जना से भयभीत होकर पक्षियों का समूह कोलाहल करने लगा है। और मुँह फाड़कर अपने भयकर दांतों को दिखाकर भय उत्पन्न करके मृग-समूह को भी वह तितर-बितर कर रहा है।

साहित्यिक-सौष्ठव का पुष्ट-प्रमाण यह भी है कि इसके 'लाङ्गुलेनाभिहत्य (अक २) 'वसन्त लेखैक (अक १) 'सह कुसुमकदम्बै (अक २) और मध्येन तनुमध्या मे (अक ३) साहित्यदर्पण दशम परिच्छेद में क्रमश स्वभावोक्ति, दृष्टान्त, श्लेष एव समाधि अलकारों के उदाहरण में उद्धृत किए गए हैं। अस्तु। 'चन्द्रकला नाटिका' नाट्यशास्त्रीय लक्षणों एव साहित्यिक विशिष्ट गुणों से युक्त एक विशिष्ट कृति है। इसके आधार पर हम कह सकते है कि आचार्य विश्वनाथ जी में *साहित्य-शास्त्रीय* गुण सैद्धान्तिक एव व्यावहारिक दोनों ही रूपों में विद्यमान् थे।

सस्कृत की नाटिकाओं के सन्दर्भ में—

'चन्द्रकला' का मूल्याङ्कन

महाकवि भास रचित 'स्वप्नवासवदत्तम्' कालिदास कृत 'मालविकाग्निमित्र' महाकवि श्रीहर्ष विरचित 'रत्नावली' एव 'प्रियदर्शिका' कृतियों की कथा-वस्तु, वस्तु-विन्यास, घटना-सयोजन आदि का साम्य 'चन्द्रकला नाटिका' पर परिलक्षित होता है। परन्तु इसका अर्थ यह कदापि नहीं कि विश्वनाथ जी की दृष्टि नाटिका

प्रणयन के समय भास-कालिदास के प्रणय-कथा प्रधान नाटकों के कथानक एवं हर्ष की नाटिकाओं की शैली का प्रभाव रहा। हम केवल यह मान सकते हैं कि पूर्ववर्ती कृतिकारों की रचना होने के कारण उनका कुछ आदर्श उनके सम्मुख अवश्य रहा और यह स्वाभाविक भी था। अस्तु, आगे हम विवेचन द्वारा यह स्पष्ट करने का प्रयास करेंगे कि किस अंश तक कथित कृतियों का प्रभाव विश्वनाथ जी की इस नाटिका पर है।

नाट्शास्त्रीय लक्षणों के अनुसार नाटिका शृंगार रस प्रधान है जैसे रत्नावली, प्रियदर्शिका। नाटिका का नाम भी नायिका के नाम पर रखा गया है। यह केवल नायिका की प्रधानता के कारण न कि हर्षदेव की नाटिकाओं के अनुकरण पर विश्वनाथ जी ने रखा है। नायिका चन्द्रकला, वासवदत्तम की 'वासवदत्ता' और रत्नावली की 'रत्नावली' की भाँति गुप्तरीति से अन्तःपुर में रही और वहीं राजा से अनुराग होता है। इसे हम 'रत्नावली' अथवा 'वासवदत्तम्' का प्रभाव-जनित संयोजन न मानकर नाट्यशास्त्रीय लक्षणानुसारी ही कहें तो असंगत नहीं है—। 'अन्तःपुरादि सम्बन्ध्यावासंन्नाश्रुति दर्शनैः' । (दशरूपक)। रत्नावली में नायिका के लिए सिद्ध पुरुष की घोषणा की कि इसका पाणिग्रहण करनेवाला पुरुष चक्रवर्ती सम्राट् होगा और 'चन्द्रकला' की नायिका के लिए 'आकाशवाणी' अस्तु भूमिपतिर्भूमौ....प्रदास्यति' ने ऐसी विलक्षण उक्ति की। यह नायिका का महत्व कथन एवं सौन्दर्य-सुलक्षण-युक्त होने का प्रमाण है, अतः नाटिका में लेखक को किसी न किसी प्रकार संयोजन करना चाहिए ही। रत्नावली का अनुकरण कहना आचार्य विश्वनाथ जैसे 'नाट्यवेददीक्षागुरु' के लिए उचित नहीं प्रतीत होता।

नाटिका प्रसादगुणपूर्ण वैदर्भी-रीति में लिखी गयी है। शृंगार-रस के सहायक ऋतु-वर्णन, चन्द्रज्योत्स्ना आदि का भी अंकन हुआ है। रत्नावली के द्वितीय अंक में—सागरिका (रत्नावली) अपनी सखी सुसंगता के साथ वार्तालाप में व्यस्त है तभी राजा का पालतू बन्दर बन्धन तोड़कर राजभवन की ओर बढ़ता है। उसे देखकर वे दोनों वहाँ से भयभीत होकर भागती हैं। उसके पश्चात् ही विदूषक और राजा का प्रवेश होता है।' इसी प्रकार की घटना

चन्द्रकला में भी (द्वितीय अंक) 'तरक्षु' के आगमन से उपस्थित होती है। उस समय वहाँ नायिका (चन्द्रकला) नहीं बल्कि महारानी वसन्तलेखा अपनी सखियों के साथ हैं। उससे भयभीत महारानी अन्तःपुर को चली जाती हैं, राजा तरक्षु को मारने के लिए प्रस्थान करता है। दोनों घटनाएँ समान सी प्रतीत होती हैं। परन्तु अनुशीलन करने पर स्पष्ट हो जाता है कि दोनों नाटिकाओं में उपस्थित 'बन्दर' और 'तरक्षु' के कारण-कार्य में बहुत ही अन्तर है। रत्नावली में बन्दर की उपस्थिति सहज घटना लगती है परन्तु 'तरक्षु' का प्रकट होना रहस्यात्मक है। 'तरक्षु' की इस कल्पना से विश्वनाथ जी ने नायक के सुहृद् रसालक के बुद्धि-कौशल का स्पष्ट परिचय दिया है और उसे उनके कार्य-सम्पादन के सहायक रूप में उपस्थित किया है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि विश्वनाथ ने नाटिका की कथा-वस्तु एवं घटना-संयोजन में नाट्यशास्त्रीय-सीमा का पूर्णतया ध्यान रखा है और मौलिकता के सामंजस्य द्वारा इसे सफल नाट्यकृति का रूप प्रदान कर दिया है। 'तरक्षु की कल्पना विश्वनाथ जी की मौलिक सूझ है, इसे हम रत्नावली के 'बन्दर' का अनुकरण नहीं मान सकते।

'चन्द्रकला-नाटिका' साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ को नाट्यकारों की श्रेणी में आबद्ध करने में सर्वथा समर्थ है। नाट्यकार के रूप में सांगोपांग मूल्यांकन तो उनकी अन्य नाट्यकृतियों प्रभावती-परिणय आदि के सम्यक् अनुशीलन के पश्चात् ही समीचीन होगा।

दारागंज, प्रयाग–६ —अनुवादक
गुरु-पूर्णिमा, संवत् २०३३

पात्रपरिचयः



प्रमुखपात्राणि

सूत्रधारः — प्रस्तावकप्रधाननटः

नटी — सूत्रधारपत्नी

चित्ररथदेवः — नायकः

सुबुद्धिः — चित्ररथदेवस्यप्रधानामात्यः

रसालकः — विदूषकः

शबरः — प्रमदोद्यानपालकः

वन्दिनी — पाण्ड्यनरेशसन्देशवाहनी

चन्द्रकला — नायिका

वसन्तलेखा — प्रधानमहिषी

रतिकला, माधविका — वसन्तलेखाविश्वासभाजनदासीयुगलम्

सुनन्दिता — नायिकायाः सखी

अन्यपात्राणि

पाण्ड्येश्वरः — पाण्ड्यनरेशः

विभ्रमाभरणः — चित्ररथदेवस्य सेनापतिः

शबरस्वामी — शबराधिपः

मेदिनी — चित्ररथदेवस्यापगारनी



श्रीगणेशाय नम.

चन्द्रकला-नाटिका

प्रथमोऽङ्कः

जीयासु शफरायमाणशशभृल्लेखा स्खलत्कैरव-
प्रातोदभ्रान्तमधुव्रतव्रजमिपादुत्क्षिप्तनीलाशुका ।
विन्दन्त्यो[1] गिरिजाकटाक्षपतनादादित्यजासङ्गम
नृत्यद्दुर्गकिरीटकोटिचपला[2] स्वर्गापगावीचय ॥१॥

संस्कृतव्याख्या—नृत्यद्दुर्गकिरीटकोटिचपला —ताण्डवनृत्य कुर्वन् शङ्करस्य मुकुटाग्रे चञ्चला, शफरायमाणशशभृल्लेखा —शफर-मत्स्य इव आचरन्ती चन्द्रलेखा यासु तादृश्य, स्खलत्कैरवव्रातोद्भ्रान्तमधुव्रतव्रज-मिपात्—कुमुदपुष्पसमूहे पतताम् उन्मत्तभ्रमराणा समूहस्य व्याजात्, उत्क्षिप्त-नीलाशुका —उपरि धृत नीलवस्त्रमिव याभि तादृश्य, गिरिजाकटाक्षपत-नात्—पार्वतीकटाक्षपातात्, आदित्यजासङ्गम—यमुनया सङ्गम, विन्द-न्त्य —प्राप्नुवन्त्य, स्वर्गापगावीचय —मन्दाकिनीतरङ्गा जीयासु —विजयन्ताम् ॥१॥

हिन्दी अनुवाद—(ताडव) नृत्य करते समय शकर के मुकुट के अग्रभाग-पर गगा जी की वे लहरें विजयशालिनी हो (विजय प्रदान करें) जिनके बीच पडी (शिव के भाल की) चन्द्रलेखा शफरी (पोठी मछली) की भाँति प्रतीत होती है जो (लहरें) दोलायमान कमलिनी दल पर उडते हुए भ्रमर समूह रूपी नीलाशुक से आच्छादित रहती हैं तथा जिन पर पार्वती का कटाक्ष पडने के कारण गगा-यमुना के सगम की सृष्टि होती है। (पार्वती—कटाक्ष मे यमुना

१ बिभ्रत्यो इति पाठभेद २ चपला इति पाठान्तरम् ।

[नान्द्यन्ते]

सूत्रधारः—अलमतिविस्तरेण । (नेपथ्याभिमुखमवलोक्य) आर्ये, इतस्तावत् ।

(प्रविश्य)

नटी—एषास्मि । आज्ञापयत्वार्यः । एसाम्हि । आणवेदु अज्जो ।

टिप्पणी—नृत्यद्भर्गकिरीटकोटिचपलाः—नृत्यन् भर्गः (कर्मधारय), तस्य किरीटम्, तस्य कोटिः, तस्या चपलाः । शफरायमाणशशभृल्लेखाः—शफर इव आचरन्ती इति शफरायमाणा शफर+क्यङ्=शफराय (नामधातु) +लट्+शानच्, मुक् आगम । शश बिभर्ति इति शशभृत्, शश भृ+क्विप्, तुक् आगम, शशभृतः लेखा शशभृल्लेखा, शफरायमाणा शशभृल्लेखा यासु तादृश्यः । स्खलत्कैरवव्रातोद्भ्रान्तमधुव्रतव्रजमिषात्—कैरवाणां व्रात, उद्भ्रान्ताः मधुव्रताः, कैरवव्राते उद्भ्रान्तमधुव्रता. स्खलन्त' कैरवव्रातोद्भ्रान्मधुव्रता', तेषा व्रजः, तस्य मिष', तस्मात् । आदित्यजासङ्गमम्—आदित्यात् जायते या सा आदित्या आदित्य जन्+ड+टाप्, तया सगमः, तम् ।

संस्कृतव्याख्या—नान्द्या.—पूर्वोक्ताया. स्तुते', अन्ते—समाप्तौ । सूत्रधारः—नटाध्यक्षः आगत्य वदतीति शेषः । अतिविस्तरेण—सुबहुलेन (नान्दी-प्रयोगेण) अलं—व्यर्थम् । नेपथ्याभिमुखम्—नेपथ्यं नाम रङ्गस्थलस्य पश्चात् यवनिकान्तरितो वर्णग्रहणादियोग्यकुशीलवकुटुम्बस्यावस्थानदेश. तस्य अभिमुख सम्मुखम्, अवलोक्य—दृष्ट्वा । आर्ये—माननीये, इतस्तावत्—इतः

के नीले जल और शकर की जटाओ मे क्रीडा करती लहरो मे गगा के धवल जल की कल्पना को गयी है ।] ॥१॥

[नान्दी के पश्चात्]

हिन्दी॰ सूत्रधार—बहुत अधिक विस्तार की आवश्यकता नही है । (नेपथ्य की ओर देखकर) प्रिये, इधर आओ ।

(प्रवेश कर)

नटी—यह हूँ मैं । आर्य आदेश करें ।

अस्मिन् स्थाने रङ्गमञ्चे इति यावत्, तावत्शब्दोऽत्रावधारणार्थः। प्रविश्य—रङ्गभूमौ प्रवेश कृत्वा, एषास्मि—अत्राहं वर्ते। आर्य—पूज्य, आज्ञापयतु—आदिशतु।

टिप्पणी—नान्द्यन्ते—नन्दयतीति नन्द नन्द्+णिच्+अच् कर्तरि पचादित्वात्। नन्द एव नान्द नन्द+अण् स्वार्थे प्रज्ञादित्वात् नान्द+ङीप्= नान्दी। नान्द्या अन्त नान्द्यन्त (ष० त०), तस्मिन्। यस्य च भावेन भावलक्षणम् इति सूत्रेण भावे सप्तमी। नाटक आरम्भ करने के पहले उसकी निर्विघ्न समाप्ति के लिए देवता आदि की जो स्तुति की जाती है, उसे नान्दी कहते हैं। भरत मुनि ने कहा है कि नाटक में विघ्न-शान्त्यर्थ नान्दी-पाठ अवश्य करना चाहिए—'यद्यप्यङ्गानि भूयांसि पूर्वरङ्गस्य नाटके। तथाप्यवश्य कर्तव्या नान्दी विघ्नप्रशान्तये॥' नान्दी का लक्षण यह है—'आशीर्वचनसयुक्ता स्तुतिर्यस्मात प्रयुज्यते। देवद्विजनृपादीना तस्मान्नान्दीति सज्ञिता॥' (साहित्यदर्पण) अर्थात् देवता, ब्राह्मण और राजा आदि की आशीर्वादयुक्त स्तुति इसके द्वारा की जाती है, अत इसे नान्दी कहते हैं। 'आशीर्नमस्क्रियारूप श्लोक काव्यार्थसूचक। नान्दीति कथ्यते। (आदिभरत) अर्थात् आशीर्वाद और नमस्कार से युक्त श्लोक नान्दी कहलाता है। उसमें काव्य के कथानक का सकेत भी होना चाहिए। 'देवद्विजनृपादीनामाशीर्वचनपूर्विका। नन्दन्ति देवता यस्या तस्मान्नान्दीति कीर्तिता॥ नन्दन्ति काव्यानि कवीन्द्रवर्गा कुशीलवा पारिषदाश्च सन्त। यस्मादल सज्जनसिन्धुहसी तस्मादिय सा कथितेह नान्दी॥' (नाट्यप्रदीप) नान्दी के विस्तार आदि के विषय में यह कहा गया है—अष्टाभिर्दशभिर्वापि नान्दी द्वादशभि पदै। आशीर्नमस्क्रियावस्तुनिर्देशो वापि तन्मुखम्॥, अर्थात् नान्दी में आठ, दस या बारह पद होने चाहिए। इसमें आशीर्वाद नमस्कार या कथावस्तु का निर्देश होना चाहिए। नान्दी के श्लोक एक से चार तक होते हैं। सूत्रधार—रगशाला का व्यवस्थापक। सूत्र धारयति इति सूत्र धृ+णिच्+अण् कर्तरि 'कर्मण्यण्' इत्यनेन, उपपद स०। सूत्रधार का लक्षण—वर्णनीयतया सूत्र प्रथम

येन सूच्यते । रङ्गभूमिं समाक्रम्य सूत्रधारः स उच्यते ॥, (संगीत-सर्वस्व), अथवा 'नाट्योपकरणादीनि सूत्रमित्यभिधीयते । सूत्रं धारयतीत्यर्थे सूत्रधारो निगद्यते ॥, अथवा 'नाट्यस्य यदनुष्ठानं तत् सूत्रं स्यात् सबीजकम् । रङ्गदेवतापूजाकृत् सूत्रधार इति स्मृतः' ॥ अलमतिविस्तरेण–वि स्तृ + अप् भावे = विस्तर, अत्यन्तं विस्तरः अतिविस्तरः (प्रादि स०), तेन । अत्र 'गम्यमानापि क्रिया कारकविभक्तौ प्रयोजिका' इति वचनात् साधन-क्रियां प्रति अतिविस्तरः करणम्, तेन करणे तृतीया । विस्तार शब्द म प्रथने वावशब्दे' सूत्र से घञ् प्रत्यय होता है । अतएव 'वाक्यस्य विस्तरः और 'पटस्य विस्तारः' इस प्रकार प्रयोग करना चाहिए । नेपथ्याभिमुखम्–नेपथ्य शब्द पर्दा और पर्दे के पीछे रूप वारण-स्थल दोनों को कहते हैं–'नेपथ्य स्याज्जवनिका रङ्गभूमिः प्रसाधनम्' इत्यजय । 'आकल्पवेषो नेपथ्यं प्रतिकर्म प्रसाधनम्' इत्यमर । नेपथ्य का लक्षण यह है–'कुशीलवकुटुम्बस्य गृहं नेपथ्यमुच्यते अर्थात् जहाँ अभिनेता अपने को सजाते और अभिनयोचित वेष धारण करते है, उसे नेपथ्य कहते है । नी + विच् = ने = नेता । तस्य पथ्यम् नेपथ्यम् (प० त०) । तस्य अभि मुखम् (ष० त०) । अवलोक्य–+अव लोक् + क्त्वा–ल्यप् । आर्ये–यह आर्या का सम्बोधन है । नाट्यशास्त्र के नियमानुसार सूत्रधार अपनी पत्नी को 'आर्या' कहकर सम्बोधित करता है – 'पत्नी चार्येति सम्भाष्या । और सूत्रधार की पत्नी या नटी उसे 'आर्य' या 'आर्यपुत्र' कहकर सम्बोधित करती है । आर्य –आराद् यात इति आर्य अर्थात् आराद् दूरसमीपयो' इत्यनेन आराद् – असभ्यतादुराचारादिदोषेभ्यो दूरं गतश्च शिष्टासभ्यताविद्या दिभिश्च देवास्पदत्वं प्राप्त इति आर्य पृषोदरादित्वात् साधुत्वम् अथवा अर्हं योग्य आर्य ऋ (गतौ) + ण्यत् । वसिष्ठ के म से आर्य का लक्षण यह है – 'कर्तव्यमाचरन् काममकर्तव्यमनाचरन् तिष्ठति प्रकृताचारे स वा आर्य इति स्मृतः' ॥ कुल शील ▪ दान धर्म सत्य कृतज्ञता । अद्रोह इति येष्वेतत् तानार्यान् सम्प्रचक्षते इति भरत ।

सूत्र०—आर्ये, पश्य पश्य। अयमिदानी यवनपुरपुरन्ध्रीवर्गनिर्गलदविरलजलधारानिर्धौतगिरिकन्दरो निजभुज[1] प्रतापतपनसमुत्सादितारातितिमिरनिकरश्चोलकोशलवङ्ग[2] हावङ्ग[3] कोच[4] काञ्चीगौडडाहाल[5] मत्स्य[6] म्लेच्छलाट[7] कर्णाटप्रमुखराजगजीव[8]-रजनीकरः यकनगुणरत्नरत्नाकरो निखिलानवद्यविद्यानिधिरर्थिकुलकल्पद्रुमः सभामध्यमध्यास्ते[9] गजपतिर्महाराधिराज त्रिकलिङ्गभूमण्डलाखण्डल श्रीमन्नि शङ्कभानुदेव[10]।

संस्कृत०—आर्ये—माननीये! पश्य पश्य—अवलोकय अवलोकय। अयम्—पुरो दृश्यमान, यवनपुरपुरन्ध्रीवर्गनिर्गलदविरलनयनजलधारानिर्धौतगिरिकन्दरः—यवनपुरस्य मुहम्मदीयनगरस्य पुरन्ध्रीवर्गाणां महिलावृन्दानां निर्गलन्तीभिः प्रस्रवन्तीभिः अविरलाभिः सान्द्राभिः नयनजलधाराभिः नेत्राम्बुप्रवाहैः निर्धौता प्रक्षालिता गिरिकन्दरा पर्वतगुहा येन तादृशः,

हिन्दी० सूत्रधार—प्रिये, देखो, देखो, इस समय सभा के मध्य त्रिकलिंग भू-मण्डल के इन्द्र महाराजाधिराज श्रीमन्नि शक भानुदेव विराजमान हैं। जिन्होंने यवन स्त्रियों के नेत्रों से बहती हुई सतत जलधारा से पर्वत की कन्दराओं को धो डाला है, अपनी भुजाओं के बलप्रताप से समस्त शत्रुओं का समूल नाश कर दिया है, जैसे सूर्य किरणों के प्रकाश से घोर अन्धकार को नष्ट कर देता है, जो चोल, कोशल, वग, हावग, कोच, काञ्ची, डाहल मत्स्य, म्लेच्छ लाट तथा कर्णाटक आदि के नरेशों को मोददायक हैं जैसे चन्द्रमा कुमुदिनी-दल को प्रमुदित किया करता है और जो समस्त गुणों से सम्पन्न गुणसागर, विद्या एवं कलाओं के निधान तथा याचकों के लिए कल्पवृक्ष के समान हैं—

१ निजभुज मू० पा०। २ लवङ्ग पाठभेद। ३ टावङ्ग पाठभेद। ४ सम्भवत कोचविहार। ५ काल पाठभेद। ६ मच्छ पाठभेद। ७ लट पाठभेद। ८ राजीवराजि पाठान्तरम्। ९ सभामध्यास्ते पाठान्तरम्। १० श्रीमान् निशङ्कभानुदेव पाठान्तरम्।

आच्छन्ने घर्मधाम्नि[1] प्रखरहयखुरक्षुण्ण[2] पृथ्वीरजोभिः
क्षिप्ते नक्षत्रलक्षे नभसि करिकरो[3]द्धूतगङ्गापयोभिः ।

निजभुजप्रतापतपनसमुत्सादितारातितिमिरनिकर —निजभुजप्रतापतपनेन स्वकीयबाहुपराक्रमरूपसूर्येण समुत्सादित विनाशित अरातितिमिरनिकर शत्रुरूपान्धकारसमूह येन तादृश, चोल-कोशल-वङ्ग-हावङ्ग-कौच-काञ्ची-गौड-डाहाल-मत्स्य-म्लेच्छ-लाट-कर्णाट-प्रमुखराजराजीवरजनीकर — चोल-कोशलादिदेशाना राजान नृपा एव राजीवानि नीलकमलानि तेषा विकासाय रजनीकर चन्द्र इव, सकल-गुणरत्नरत्नाकर —सकलाना समस्ताना गुणरत्नाना श्रेष्ठगुणाना रत्नाकर समुद्र इव, निखिलानवद्यविद्यानिधि —निखिलाना समग्राणाम् अनवद्यानाम् उत्तमाना विद्याना शास्त्राणा निधि शेवधि इव, अर्थिकुलकल्पद्रुम —अर्थिकुलाना याचकसमूहाना कल्पद्रुमः कल्पवृक्ष इव, महाराजाधिराज —सम्राट्, त्रिकलिङ्गभूमण्डलाखण्डल — त्रिकलिङ्गराज्यस्य इन्द्र इव, गजपति, श्रीमन्निशङ्कभानुदेव, इदानीम्—अधुना, सभामध्यम्—परिषदो मध्ये, अध्यास्ते—विराजमानोऽस्ति ।

सस्कृत०—यस्य—निःशङ्कभानुदेवस्य, जैत्रयात्रावकाशे—विजयार्थं प्रयाणे, प्रखरहयखुरक्षुण्णपृथ्वीरजोभि —प्रखरा तीक्ष्णा ये हयखुरा अश्वशफा तैं क्षुण्णं मर्दितैं पृथ्वीरजोभि धराधूलिभि, घर्मधाम्नि—घर्म एव धाम यस्य तादृशे सूर्ये, आच्छन्ने—आवृते सति, करिकरोद्धूतगङ्गापयोभि — करिणा गजाना करा शुण्डा तैं उद्धूतैं उत्क्षिप्तैं गङ्गापयोभि गङ्गाजलैं, नभसि—आकाशे, नक्षत्रलक्षे—नक्षत्राणा ताराणा लक्षाणि यत्र तादृशे, क्षिप्ते—जाते, कीर्तिचन्द्रे—कीर्ति यश चन्द्र इव इन्दुरिव इति तस्मिन्,

---

हिन्दी०—उसकी विजययात्रा के समय तीव्रगामी घोडो के खुराघातो से उडी धूलराशि से सूर्य बिम्ब ढक गया, मतवाले हाथियो ने अपनी सूडो से गगा के जल को भर-भर कर जो ऊपर की ओर फेका उन जल-कणों से

---

१ घर्मधाम्नि पाठभेद । २ क्षुण्णं मू० पा० । ३ करिवरो पाठभेद ।

ज्योत्स्नाभिः कीर्तिचन्द्रे धवलयति जगज्जैत्रयात्रावकाशे
गौडक्ष्मापाललक्ष्मी[1] व्यरचयदचिरादेव यस्याभिसारम् ॥२॥

यदस्माकमिदानीं[2] चतुर्दशभाषा[3] महाकविनिखिलानवद्य-विद्यामहोदधिराजहंसमहापात्रश्रीचन्द्रशेखरतनूजन्मन श्रीमन्नारायणचरणारविन्दमधुकरीभूतचेतस निजजनकसमधिगतनिखिल-

ज्योत्स्नाभि —चन्द्रिकाभि, जगत्—संसार, धवलयति—उज्ज्वलयति सति, गौडक्ष्मापाललक्ष्मी —गौडदेशस्य राज्ञो राज्यश्री, अचिरादेव—शीघ्रम् अभिसारम्—अभिसरणम् प्रियेण समागन्तु सङ्केतस्थलगमनमिति यावत्, व्यरचयत्—निर्वर्तयामास। अत्रापि शार्दूलविक्रीडित छन्द। अत्र उत्प्रेक्षालङ्कार ॥२॥

संस्कृत०—यत्—यस्मात्, इदानीम्—अधुना, चतुर्दशभाषामहाकविनिखिलानवद्यविद्यामहोदधिराजहंसमहापात्रश्रीचन्द्रशेखरतनूजन्मन — चतुर्दशभाषाणा शौरसेन्यादीना महाकवे महाकवयितु निखिला समस्ता अनवद्या उत्तमा विद्या शास्त्राणि एव महोदधय समुद्रा तेषां राजहंसस्य इव महापात्रस्य प्रधानामात्यस्य उत्कृष्टसम्प्रदायब्राह्मणस्य वा श्रीचन्द्रशेखरस्य पुत्रस्य, श्रीमन्नारायणचरणारविन्दमधुकरीभूतचेतस —श्रीमतो नारायणस्य चरणमेव अरविन्द पद्म तस्मिन् मधुकरीभूत (सततत्तत्सेवनात्) चेत चित्त यस्य तादृशस्य, निजजनकसमधिगतनिखिलसाहित्यतत्त्वस्य—निजजनकात् स्वपितु

आकाश मे तारा की छटा छा गयी, और फिर इनके बीच उसके कीर्तिचन्द्र की निर्मल ज्योति उनके इस जगत् विजयी अभियान मे चारो ओर प्रकाशित होने लगी। तब उस धवल चादनी मे गौड-नरेश की लक्ष्मी ने त्रिकलिंग-नरेश पर मुग्ध होकर शीघ्र ही उसमे अभिसार किया ॥२॥

हिन्दी०—अत आज चौदह भाषाओ के महाकवि, सम्पूर्ण उत्तम विद्या-

१ लक्ष्मि मू० पा०। २ तस्मादस्माकमिदानीं पाठान्तरम्। ३ भाषाविलासिनीभुजङ्ग पाठान्तरम्।

साहित्यतत्त्वस्य नाट्यवेददीक्षागुरो गौरवैक[1] बान्धवस्य गजपति-महाराज्यसान्धिविग्रहिक[2] श्रीविश्वनाथकविराजस्य कृतिमभिनवा चन्द्रकलानाम नाटिकामभिनेतुमुचितोऽय समय ।

नटी—आज्ञापयत्वार्य । कतम समयमुद्दिश्य गास्यामि । (आणवेदु अज्जो कदम समअ उद्दिसिअ गाइस्सम् ।)

स काशाद् समधिगत प्राप्त निखिलसाहित्यस्य सम्पूर्णकाव्यस्य तत्त्व सारो येन तादृशस्य, नाट्यवेददीक्षागुरो —नाट्यशास्त्रस्योपदेष्टु, गौरवैकबान्धवस्य—गौरव प्रतिष्ठा एव एक बान्धवो बन्धुर्यस्य तादृशस्य,गजपतिमहाराज्यसान्धिविग्रहिकश्रीविश्वनाथकविराजस्य—गजपतेर्विशालराज्यस्य सन्धिविग्रहयोरधिकारे नियुक्तस्य श्रीविश्वनाथकविराजस्य—विश्वनाथनाम्न कविश्रेष्टस्य (कवीना राजा श्रेष्ठ कविराज इति गुणप्रयुक्तो व्यक्तिगत उपाधि कलापचन्द्रप्रणेतु सुषेणशर्मण कविराजोपाधिवत्, न तु वैद्यजातिमात्रायत्त कविराजेत्युपाधि)अभिनवा—नूतना, कृति—रचना, चन्द्रकला नाम नाटिकाम्, अभिनेतु–खेलितुम्, अयम्, उचित समय —उपयुक्त काल अस्तीति शेष ।

सस्कृत०—कतम, समय–ऋतुमिति यावत्, उद्दिश्य–उपलक्ष्य, अह गास्यामि इति आर्य —पूजनीयो भवान्, आज्ञापयतु ।

समुद्र के राजहस महापात्र श्री चन्द्रशेखर के पुत्र कविराज श्री विश्वनाथ की नवीन रचना 'चन्द्रकला' नामक नाटिका खेलने के लिए यह उचित समय है । यह कविराज विश्वनाथ श्रीमन्नारायण के चरणो मे हमेशा लीन रहने वाले, (जैसे भौंरा कमल मे लीन रहता है) अपने पिता से जिन्होने साहित्य के सभी तत्त्वो का ज्ञान प्राप्त किया और जो नाट्यवेद के दीक्षागुरु, परमयशस्वी तथा गजपति-साम्राज्य के सान्धिविग्रहिक (सन्धि और युद्ध का निश्चय करने वाले मन्त्री) थे ।

हिन्दी०—नटी—आर्य ! आज्ञा दें, कि गीत मे किस काल (ऋतु) का सकेत हो ।

---

१ गौरवैक मू० पा० तात्पर्यहीन । २ सान्धिविग्रहिकमहापात्र पाठभेद ।

सूत्र०—आर्ये ! अमुमेवाचिरोपस्थितकेतकीपरिमलमिलितमधुकरवधूनिकर[1] झङ्कारमुखरितदिशाभोग मलयाचलदरीगलितनिर्झरसलिलशीकरशिशिरधीरमारुतचूतकानन दरदलित[2] चूताङ्कुरास्वादसुन्दरमदकलकलकण्ठकुलकलितकाकलिविरचितविरहिकर्णज्वर वसन्तसमयम् । इह हि—

अमुमेव, अचिरोपस्थितकेतकीपरिमलमिलितमधुकरवधूनिकरझङ्कारमुखरितदिशाभोगम्—अचिरेण अविलम्बेन उपस्थिताया विकसिताया केतक्या परिमलेन मकरन्देन मिलिताना संगताना मधुकरवधूना भ्रमरीणा यो निकर समूह तेन मुखरित गुञ्जित दिशानाम् आभोग विस्तार यस्मिन् तादृश, मलयाचलदरीगलितनिर्झरसलिलशीकरशिशिरधीरमारुतचूतकानन—मलयाचलस्य मलयपर्वतस्य दरीभ्य कन्दराभ्य गलिताना नि सृताना निर्झराणा वारिप्रवाहाणा सलिलशीकरै. अम्बुकणै शिशिर शीतल धीर मन्दश्च मारुत वायु चूतकानने आम्रवने यस्मिन् तादृश, दरदलितचूताङ्कुरास्वादसुन्दरमदकलकलकण्ठकुलकलितकाकलिविरचितविरहिकर्णज्वरं—दरम् ईषत् यथा स्यात् तथा दलितस्य विकसितस्य चूताङ्कुरस्य आम्रमञ्जया आस्वादेन सुन्दरा मदकला मदमत्ताश्च ये कलकण्ठा कोकिला तेषा कुलानि समूहा तेषा कलितकाकलिभि अव्यक्तमधुरध्वनिभि विरचित उत्पादित विरहिणा कर्णे ज्वरो येन तादृश, वसन्तसमयम्, अभिलक्ष्य गीयताम् इति शेष ।

सूत्रधार—आर्ये ! इसी वसन्तकाल का वर्णन करो—भौरें केतकी पुष्प के परिमल से आकृष्ट हो कर मधुर गुंजार करने लगे है, उनकी ध्वनि से दिशाएँ मुखरित हो रही हैं, मलयाचल के गुफा-निर्झर के कणो से वायु शीतल हो गयी है, और उसकी मन्द गति के कारण आम्र-वन हिल रहे हैं । अधखिली आम की मंजरी के रसास्वाद से कोकिल मत्त हो गए हैं । वे अपने मधुर कंठ से कूक कर विरहिणियो को विकल करने लगे हैं । यहाँ तो—

१ मधुकरीर वधूनिकर मू० पा० । २ दरदलित मू० पा० ।

लताकुञ्ज गुञ्जन्मदवदलिपुञ्ज चपलयन्
समालिङ्गन्नङ्ग[1] द्रुततरमनङ्ग प्रबलयन्[2]।
मरुन्मन्द मन्द दलितमरविन्द तरलयन
रजोवृन्द विन्दन् किरति मकरन्द दिशि दिशि ॥३॥[3]

नटी—[गायति]

अमुञ्चन्नपि निजा ता कुन्दलता सुचिरोपभुक्ताम्[4]।
चुम्बति रसालवल्लीम् अभिनवमधुगन्धा भ्रमर ॥४॥

संस्कृत०—गुञ्जन्मदवदलिपुञ्ज—गुञ्जन् रुवन् मदवान् मदमत्तश्च अलिपुञ्जो भ्रमरसमूहो यत्र तादृशं, लताकुञ्ज, चपलयन्—चपलीकुर्वन् सञ्चालयन्, अङ्ग—विहारपरायणाना गात्र, समालिङ्गन्—संस्पृशन् अनङ्ग—काम, द्रुततरम्—अतिशीघ्र, प्रबलयन्—प्रबलीकुर्वन्, वर्धयन् —दलितम्—प्रस्फुटितम्, अरविन्द—कमल, मन्द मन्द—शनै शनै, तरलयन्—तरलीकुर्वन् सञ्चालयन्, तथा रजोवृन्द—पुष्पाणा परागसमूह विन्दन्—गृह्णन्, मरुत्—वायु, दिशि दिशि, मकरन्द—पुष्पमधु किरति—विक्षिपति। अत्र माधुर्यगुण, शिखरिणीच्छन्द ॥३॥

(अमुअन्तोवि णिअ त[1] कुन्दरदं सुइरउवहुत्त ।
चुम्बइ रसालवल्ली अहिणवमहुगन्ध भमरो ॥४॥)

सूत्र०—[सशिर कम्पम्] आर्ये, साधु गीतम् । एव खलु शिथिलितपौर[2] कुन्दलतानुरागातिशयमभिनवप्रफुल्लसहकारवल्लीनिबद्धप्रेमाणं मधुकरं वर्णयन्ती सत्यमाह[3] भवती । तथा हि—

चिरादधिगतं वस्तु[4] रम्यमप्यवधारयन्[5] ।
पुरः प्रतिनवं वीक्ष्य मनस्तदनुधावति ॥५॥

संस्कृत०—शिथिलितपौरकुन्दलतानुरागातिशयम्—शिथिलितः मन्दीकृतः पौरकुन्दलतायाः नगरस्थकुन्दवल्लया अनुरागातिशयः दृढः प्रेम यन तादृशम्, अभिनवप्रफुल्लसहकारवल्लीनिबद्धप्रेमाणम्—सद्यः पुष्पितायाम् आम्रलतायाः निबद्धः स्थिरीकृतः प्रेम यन तादृशं, मधुकरं—भ्रमरं, वर्णयन्ती भवती—त्वं, सत्यमाह—यथार्थं वदसि ।

संस्कृत०—मनः—चित्तं, चिरात्—दीर्घकालात्, अधिगतम्—प्राप्तं, वस्तु, रम्यमपि—सुन्दरमपि, अवधारयत्—जानत्, पुरः—अग्रे, प्रतिनवं—नूतनं (वस्तु), वीक्ष्य—दृष्ट्वा, तत् अनुधावति—तस्य पश्चाद्धावति ॥५॥

हिन्दी०—नटी—(गाती है) भ्रमर नवमधुरस-युक्त आम की लता का चुम्बन करने लगा परन्तु वह भली भांति उपयोग की गयी कुन्दलता का भी परित्याग नहीं कर पा रहा है ॥४॥

हिन्दी० सूत्रधार—[सिर हिलाकर] प्रिये, तुमने उचित ही गाया। महल की कुन्दलता के अनुराग में बद्ध भ्रमर का वर्णन बिलकुल सत्य है। वह इस समय नव पुष्पित सुमना से आच्छन्न आम्रलता में अनुरक्त हो गया है। कहा गया है—

हिन्दी०—हृदय का स्वभाव ही है कि वह पूर्वप्राप्त वस्तु की सुन्दरता का अनुभव करने पर भी नवीन वस्तु से आकर्षित होकर उधर ही दौड़ता है ॥५

---

१ णिद मू० पा० । २ शिथिलतप्तौ च मू० पा० । ३ सत्यमाह मू० पा० । ४. रम्यमू० पा० । ५ अवधारयत् ।

[नेपथ्ये]

साधु ! शैलूप, साधु ! 'चिरादधिगतमित्यादि'—

सूत्र०—[आकर्ण्य] आर्ये, अयमसावितः प्राप्त एव क्षोणीभुजश्चित्ररथदेवस्य सुबुद्धिनामा प्रियामात्यः । तदावामपि समनन्तरकरणाय सज्जीभवाव ।

[इति निष्क्रान्तौ]

प्रस्तावना

[ततः प्रविशति सुबुद्धिः 'साधु शैलूप' इत्यादि नेपथ्योक्तं पठित्वा]

संस्कृत०—शैलूप–नट ! साधु–समीचीनम् । क्षोणीभुज –क्षोणीं पृथ्वीं भुनक्ति इति क्षोणीभुक्, भुजेः कर्तरि क्विप्, तस्य=राज्ञः । प्रियामात्य –प्रियमन्त्री । समनन्तरकरणाय–सद्यः पश्चात्कर्तव्यसम्पादनाय, सज्जीभवाव –उद्यतौ स्याव । निष्क्रान्तौ–निर्गतौ नटीसूत्रधाराविति शेषः ।

संस्कृत०—प्रस्तावना—आमुखं (समाप्तम्) । प्रस्तावनालक्षणं यथा साहित्यदर्पणे–'नटी विदूषको वापि पारिपार्श्विक एव वा । सूत्रधारेण सहिताः संलापं यत्र कुर्वते ॥ चित्रैर्वाक्यैः स्वकार्योत्थैः प्रस्तुताक्षेपिभिर्मिथः । आमुखं तत्तु विज्ञेयं नाम्ना प्रस्तावनाऽपि सा ॥ (६-३१-३२)' इति । तत्र च पञ्चविधासु प्रस्तावनासु प्रयोगातिशयाख्या प्रस्तावनेयम् । तल्लक्षणं यथा–'यदि प्रयोग एकस्मिन् प्रयोगोऽन्यः प्रयुज्यते । तेन पात्रप्रवेशश्चेत् प्रयोगातिशयस्तदा' ॥ इति ।

हिन्दी०—(नेपथ्यमें) ठीक, सूत्रधार ! ठीक कहते हो । पूर्वप्राप्त वस्तु को सुन्दर मानकर भी..... इत्यादि ।

सूत्रधार—(सुनकर) प्रिये ! महाराज चित्ररथ देव के प्रिय मन्त्री सुबुद्धि आ गये । अतः हमें भी निश्चित कार्य की तैयारी करनी चाहिए ।

(दोनों का प्रस्थान)

प्रस्तावना समाप्त

[इसके बाद 'ठीक सूत्रधार ! ठीक' इत्यादि कहते हुए सुबुद्धि का प्रवेश]

सुबुद्धिः—अनेन खलु चन्द्रकलाया भर्तुरनुरागबन्धः स्यान्नवेति चिन्तयतो मम दत्तमेव प्रतिवचनं भवता[1]। तथा ह्येषा कर्णाटविजयार्थं प्रस्थितेन विक्रमाभरणाख्येन सेनापतिना मध्येमार्गं कुतोऽप्यधिगत्य निरुपमसौन्दर्यलक्ष्मीरिव विग्रहवतीति राजवंशजेयमिति[2] कथयित्वा मत्परितोषकाङ्क्षिणा मदन्तिकं प्रहिता। मया चात्यन्तसुलक्षणेति निरूप्यमाणा तत्काले च—

अनेन—वाक्येन, चन्द्रकलाया, भर्तुः—स्वामिनः अनुरागबन्धः—प्रेमबन्धनं, स्यान्नवेति, चिन्तयतः—विचारयतः, मम—मे, भवता, प्रतिवचनम्—उत्तरं, दत्तमेव। कर्णाटविजयार्थं—कर्णाटदेशं विजेतुं, प्रस्थितेन—चलितेन, विक्रमाभरणाख्येन अधिगत्य—प्राप्य, इयं—चन्द्रलेखा, निरुपमसौन्दर्यलक्ष्मीरिव—निरुपमा अद्वितीया सौन्दर्यलक्ष्मी लावण्यश्री इव, विग्रहवती—शरीरधारिणी, इति, राजवंशजा—राजकुलोत्पन्ना, इति, कथयित्वा, मत्परितोषकाङ्क्षिणा—मत्सन्तोषाभिलाषिणा (सेनापतिना), मदन्तिकं—मम समीपं, प्रहिता—प्रेषिता। मया च, अत्यन्तसुलक्षणा—सामुद्रिकशास्त्रशुभलक्षणसम्पन्ना, इति, निरूप्यमाणा—वीक्ष्यमाणा (इयम्), तत्काले च—तस्मिन्नेव अवलोकनसमये,

---

सुबुद्धि—चन्द्रकला के प्रति महाराज का अनुराग है अथवा नहीं, ऐसा सोचते हुए, मुझे जैसे-यह कर आपने उत्तर ही दे दिया। क्यों कि ऐसा है कि, कर्णाटक-विजय के लिए प्रस्थित विक्रमाभरण नामक सेनापति ने कहीं मार्ग में इस युवती को प्राप्त किया। लक्ष्मी के समान सौन्दर्यराशि को बिखेरती हुई इसे किसी राजवंश की कन्या समझा तथा मेरे सन्ताप के लिए उसने मेरे पास प्रेषित कर दिया। और मैं भी सुन्दर लक्षणों से युक्त युवती का निरीक्षण कर रहा था कि दिव्य वाणी सुनायी पड़ी—

---

१ भवन्ती मू० पा०। २ राजवंशजेयमिति मू० पा०।

यस्तु भूमिपतिर्भूमौ[1] पाणिमस्या ग्रहीष्यति[2] ।
लक्ष्मी[3] स्वयमुपागत्य वरमस्मै प्रदास्यति ॥६॥

इत्यमानुषी गिरमाकर्ण्य तत्परिणयेन भर्तुरुपचयं महान्तं चिन्तयता पाण्ड्यराजदुहितुर्महादेव्या भयेन स्वयं महाराजेनैना[4] परिणाययितुमशक्नुवता[5]न्तःपुरचारिणीमिमामवलोक्य[6] स्वयमेव परिग्रहीष्यति[7] स्वामीति विचिन्त्य मम वशजेयं सखीपदे स्थापयित्वा परि-

संस्कृत०—भूमौ—पृथिव्याम्, यः, भूमिपतिः—राजा, अस्याः—चन्द्रकलायाः, पाणिं—करं ग्रहीष्यति—धारयिष्यति परिणेष्यतीत्यर्थः, लक्ष्मीः, स्वयं—साक्षात्, उपागत्य—समीपमागत्य, अस्मै—भूमिपतये, वरम्—अभीष्टं, प्रदास्यति । अत्र अनुष्टुप् छन्दः ॥६॥

इति—इत्थम्, अमानुषीं गिरं—दैवीं वाचम्, आकर्ण्य—श्रुत्वा, तत्परिणयेन—चन्द्रकलाविवाहेन, भर्तुः—स्वामिनः, महान्तम् उपचयम्—उन्नतिं, चिन्तयता—विचारयता, पाण्ड्यराजदुहितुः—पाण्ड्येश्वरस्य पुत्र्याः, महादेव्याः—महाराज्ञ्याः, भयेन—भीत्या, स्वयं, महाराजेन—निःशङ्कभानुदेवेन, (सह) एना—चन्द्रकलां, परिणाययितुं—विवाहयितुम्, अशक्नुवता—असमर्थेन (मया) अन्तःपुरचारिणीम्—अवरोधनिवासिनीम्, इमां—चन्द्रकलाम्, अवलोक्य—दृष्ट्वा, स्वामी, स्वयमेव, परिग्रहीष्यति—परिणेष्यति, इति, विचिन्त्य—आलोच्य इयं—कन्यका, मम, वशजा—वशोत्पन्ना, सखीपदे—सख्याः स्थाने, स्थापयित्वा—

हिन्दी०—पृथ्वी पर जो कोई भी राजा इसका पाणिग्रहण करेगा, उसके पास स्वयं लक्ष्मी आकर उसको वरदान देंगी ॥६॥

इस दिव्यवाणी को सुनकर स्वामी की समृद्धि के लिए उनका इसके साथ परिणय कराने का विचार किया परन्तु पाण्ड्यराजपुत्री महादेवी के भय से मैं स्वयं महाराज के साथ इसका परिणय कराने में असमर्थ था। अतः मैंने सोचा कि अन्तःपुर में रहती हुई इसकी सुन्दरता को देखकर स्वामी स्वयं

१ भूमिपतिभूमौ मू० पा० । २ ग्रहिष्यति मू० पा० । ३ लक्ष्मी मू० पा० । ४ महाजनेना मू० पा० । ५ अशक्नुवानेन मू० पा० । ६ मिमावलोक्य मू० पा० । ७ परिग्रहिष्यति मू० पा ।

पालनीयेति सादर समर्पिता[1] देव्या । [विचिन्त्य] तत कुत पुनरिदानीम् आकर्णयामो[2] वृत्तान्तमेतस्या । कथ चिरादा[3] हूयमानापि नाभिवर्तते मामन्त पुरचारिणी सुनन्दना ।

[प्रविश्य]

सुनन्दना[4]–आर्य, वन्दे। (अज्ज, वन्दामि ।)

सुबुद्धि–सुनन्दने, कथय चन्द्रकलावृत्तान्तम् ।

सुनन्दना–आर्य, कथयितु विभेमि[5]। (अज्ज, कधिदु भिएमि ।)

सुबुद्धि–कथय । न खलु सम्भावय रहस्योद्भेदमस्मादृशेषु ।

निधाय, परिपालनीया—पोषणीया, इति, देव्या —महाराज्ञ्यै, सादरम्—आदरेण सहित यथा स्यात् तथा, समर्पिता—दत्ता । तत, कुत —कस्मात्, पुन, इदानीम्—अधुना, एतस्या —चन्द्रकलाया , वृत्तान्त—समाचारम, आकर्णयाम श्रोष्यामि । कथ, चिरात—बहो कालात्, आहूयमानापि—आकार्यमाणापि, अन्त पुरचारिणी, सुनन्दना—एतनाम्नी दासी, माम्, न अभिवर्तते—न उपैति ?

सस्कृत०–न खलु मत्त रहस्यप्रकट भविष्यति इति सम्भावना मा कार्षी । पूर्व प्रागव भवते मया निवेदितम् । इय—चन्द्रकला, दर्शन-

---

हिन्दी०–(प्रवेशकर) आर्य प्रणाम ।

सुबुद्धि–सुनन्दने ! चन्द्रकला का समाचार बताओ ।

सुनन्दना–आर्य बताने से डरती हूँ ।

सुबुद्धि–कहो, मुझ जैसे व्यक्ति से रहस्योदघाटन कभी भी सम्भव नही । ही परिणय कर लेंगे और मैंने यह कह कर कि यह मेरे कुल की कन्या है आप अपनी सखी के रूप म मान कर इसका पालन करें महारानी को सौंप दिया । [सोचकर] तो इस समय पुन किससे और किस प्रकार इसका समाचार मालूम करूँ ? क्या कारण है कि अन्त पुर म काम करने वाली सुनन्दना, जिसको मैंने बहुत देर हुए बुलवाया था आ नही रही है ?

---

१ समर्पिका मू० पा० । २ आकर्णयामि इति पाठस्तूचित । ३ चिराद्दा मू० पा० । ४ सुनन्दना मू० पा० । ५ विभेम मू० पा० ।

सुनन्दना–पूर्वं खलु कथितमेव मया आर्याय[1] इयं खलु दर्शनमात्रकेणैव[2] महाराजानुरागबन्धनं भविष्यतीति आशङ्कयन्त्या आर्यगौरवनियन्त्रितया[3] देव्या प्रियसखीपदे स्थापिता वर्तते[4]। इदानीं च अतिप्रयत्नेन[5] गोपाय्यमानापि अतर्कितेन देवीसमीपमुपगच्छत-[6] महाराजस्य लोचनगोचरे पतिता। (पुव्वं क्ख कधिदं ज्जेव मए अज्जस्स। इअं क्खु दसणमत्तकेणज्जेव[7] महाराआअणुराअबन्धणं भविस्सदित्तिसासङ्कन्तिएवि अज्जगोरवणिअन्तिदाए देवीए[8] पिअसहिपदे स्थापिता वदइ। दाणीं च आदिपउत्तेण[9] गोविज्जमाणावि अदक्किदेण देवीसमीबमुबगच्छत्तस्स[10] महाराअस्स[11] लोअणगोअरे पडिता।)

मात्रकेणैव–दृष्टिपथमवतरन्त्येव, महाराजानुरागबन्धनं भविष्यति–स्वामिनः प्रेम स्वस्याम् आधास्यति, इति, आशङ्कयन्त्या–सन्दिहानया, आर्यगौरवनियन्त्रितया–भवत्प्रतिष्ठाभिभूतया, देव्या–महाराज्ञ्या, (आत्मनः) प्रियसखीपदे, स्थापिता, वर्तते। च–किन्तु इदानीम्–अधुना, अतिप्रयत्नेन–महता यत्नेन, गोपाय्यमानापि–निभृतं रक्ष्यमाणापि, (सा) अतर्कितेन–सहसा, देवीसमीपम्, उपगच्छत, महाराजस्य, लोचनगोचरे–दृष्टिपथे, पतिता–समागता।

सुनन्दना–पहले ही बता चुकी हूँ कि आपके कुल-गौरव का ध्यान रख कर महादेवी उसे अपनी सखी-पद पर प्रतिष्ठित कर पालन पोषण कर रही हैं। और महादेवी, इस शंका के कारण कि इसके दर्शनमात्र से ही महाराज इसके प्रति आसक्त हो जायँगे इसकी उपस्थिति अत्यन्त ही गोपनीय रखती है। तथापि अचानक देवी के ही पास जाते हुए महाराज की दृष्टि उस पर पड़ ही तो गयी।

१ आत्मस्य मू० पा०। २ दर्शनमात्रवेणापि मू० पा०। ३ आर्ये गौरवनियन्त्रितया मू० पा०। ४ अत्र प्राकृते 'वट्टई' इति पाठ उचित। ५ प्रतिप्रवुत्येन मू० पा० भ्रष्ट। ६ उपगच्छता मू० पा०। ७ दसमत्तवेण मू० पा०। ८ णिअन्तिदादेवीए मू० पा०। ९ अदिपडित्तेण मू० पा०। १० देवीसमीमुवगच्छत्तस्स मू० पा०। ११ महाराअस्स इति मू० पा० नास्ति।

सुबुद्धिः—ततस्ततः।

सुनन्दना—तत इय मन्थरतरलतारकमहाराजमा[1] लोकयन्ती ससम्भ्रम देवीपरिजनैर्दूरतो नीता। (तदो इअ[2] मत्थरतरलतारग[3] महाराअ आलोअन्ती[4] ससम्भ्रम देवीपरिअणेहि दूरदो णीदा।)

सुबुद्धिः—ततस्ततः।

सुनन्दना—ततः प्रभृति देवीभयात् बाह्यतिरोहितविकारोऽहर्निशं मदनानलभावितान्तरो[5] वर्तते महाराजः। (तदो पहुदि देवीभयादो बाहिजतिरोहिदविआरो अहणिस मदणाणलभमिदन्तरो वट्टदि महाराओ।

तत —तदनन्तरम्, मन्थरतरलतारकमहाराजम्—मन्थरा मन्दा निश्चलेति यावत् तथा तरला चपला वा चाकचिक्यपूर्णा तारका अक्ष्ण. कनीनिका यस्य तादृश महाराजम्, आलोकयन्ती—पश्यन्ती, इय—चन्द्रकला, देवीपरिजनैः—महाराज्ञ्या. दासीभि, ससम्भ्रम—हठात्, दूरतो नीता—ततो दूरस्थानं प्रापिता। तत. प्रभृति—तदारभ्य, महाराज, देवीभयात्, बाह्यतिरोहितविकार —बाह्ये बहिर्देशे तिरोहित. निगूढ. विकार. कामविकारो यस्य

सुबुद्धि—तब क्या हुआ ?

सुनन्दना—तब चचल और मदिर नेत्रों से राजा की ओर देखती हुई उसको देवी की सेविकाओं ने शीघ्रतापूर्वक दूर हटा दिया।

सुबुद्धि—इसके बाद क्या हुआ ?

सुनन्दना—उस क्षण से महाराज अन्दर ही अन्दर रातदिन काम से पीडित होने लगे हैं, लेकिन महारानी के डर से यह विकार बाहर प्रकट नहीं होने देते।

१ ... मलोकयन्ती मू० पा०। २ इय मू० पा०। ३ समन्थरतरलतारय ४ आलोअन्त। ५ मदनानलभमितान्तरो इति पाठ. समीचीनतरः।

सुबुद्धि—भद्रे ! तत् कथ महाराजस्य त्वरितमनया सङ्गमो भवति[1]।

सुनन्दना—आर्य, ममोपायेन समुत्पन्न एव। (अज्ज, मम उवायेण समुप्पणो ज्जेव।)

सुबुद्धि—क पुनरुपायस्ते ?

सुनन्दना—आर्य, महाराजनियोगेन चन्द्रकलामनुसर्तुं त्वरिता न शक्नोमि इह चिर स्थातुम्। तत् पश्चात् कथयिष्यामि। (अज्ज, महाराअणिओएणि चन्दअल अणसरिदु तुवरिदा ण सक्कोमि इध चिर ठादु। ता पच्छा किहिस्स।)

[इति निष्क्रान्ता]

तादश, अहर्निश—रात्रिन्दिव, मदनानलभावितान्तर—मदनानलेन कामाग्निना भावित सन्दीपितम अन्तर हृदय यस्य तादश वर्तते।

भद्रे—कल्याणि ! तत, कथ महाराजस्य, अनया—चन्द्रकलया, त्वरित—शीघ्र, सङ्गम—सम्मेलन, भवति—भविष्यति। अत्र वर्तमानसामीप्ये भविष्यदर्थे लट्। महाराजनियोगेन—महाराजाज्ञया चन्द्रकलाम अनुसर्तुम—अनुगन्तुम, त्वरिता—शीघ्र्येण युक्ता (अस्मि इति) इह—अत्र, चिर—बहुकाल यावत, स्थातु न शक्नोमि। राज्यानुसन्धानाय—राज्यकार्यसम्पादनाय।

सुबुद्धि—भद्रे ! तो महाराज का इसके साथ सगम शीघ्र कैसे हो ?

सुनन्दना—आर्य ! मेरे उपाय से सम्पन्न ही है।

सुबुद्धि—अच्छा तो फिर तुम्हारा उपाय क्या है ?

सुनन्दना—आर्य ! महाराज ने मुझे चन्द्रकला के प्रति सावधान रहने का आदेश दिया है इस कारण शीघ्रता मे हूँ, अधिक देर तक रुक नहीं सकती। फिर बताऊँगी।

(चली जाती है)

---

१ भवतु मू॰ पा॰।

सुबुद्धिः—[विचिन्त्य] तदहमपीदानीं राज्यानुसन्धानाय गच्छामि।

[इति निष्क्रान्तः]

विष्कम्भकः

[ततः प्रविशति मदनावस्था नाटयन् राजा विदूषकश्च]

राजा—[सचिन्तम्]

सा दृष्टिर्नवनीर[1] नीरजमयी वृष्टि[2]स्तदप्यानन
हेलामोहनमन्नयन्मजनिताकृष्टिर्जगच्चेतसः[3]।

विष्कम्भकः—भूताना भाविना च कथाशाना निदर्शक समाप्त इत्यर्थः। तल्लक्षण यथा 'वृत्तवर्तिष्यमाणाना कथाशाना निदर्शकः। संक्षिप्तार्थस्तु विष्कम्भ आदावङ्कस्य दर्शित.॥' इति। तत्र चास्मिन् प्रबन्धे सङ्कीर्ण-विष्कम्भक.। तस्यापि लक्षण यथा साहित्यदर्पणे—'मध्येन मध्यमाभ्या वा पात्राभ्या सम्प्रयोजितः। शुद्ध. स्यात, स तु सङ्कीर्णो नीचमध्यमकल्पित'॥' तथा चात्र सुनन्दनासुबुद्धिरूपाभ्या नीचमध्यमपात्राभ्या कल्पितत्वात् सङ्कीर्ण-विष्कम्भक इति ज्ञेय.। नाटयन्—अभिनयन्। सचिन्तम्—चिन्तया सहितं यथा स्यात् तथा।

सा, दृष्टि.—अवलोकनं, नवनीरनीरजमयी-स्वच्छजलसम्भूतकमलमयी, वृष्टिः—वर्षणं, तदपि, आनन—मुख. जगच्चेतस.—जगत जगन्निवासिना-मित्यर्थः चेतस चित्तस्य, हेलामोहितमन्नयन्मजनिताकृष्टि—हेलया

सुबुद्धि—(सोचकर) तो मैं भी अब राज्य की देख-रेख करने चलूं।

(चला जाता है)

विष्कम्भक

[इसके बाद पीड़ित राजा और विदूषक का प्रवेश]

राजा—(सोचता हुआ) उसकी आँखो से प्रतीत होता था जैसे नव जल मे खिलते हुये कमलो की बौछार हो (जैसे निर्मल, स्वच्छ जल मे कमल खिल गये हों उनसे सुगन्धित जलबूँदो की वृष्टि जैसे सुखदायक होती है,

---

१ अत्र 'नवनील' इति पाठो युक्त.। २ वृष्टि तदप्यानन म० पा०। ३ कृष्टिजगचेतस मू० पा०।

सा भ्रूवल्लि[1]रनङ्गशार्ङ्ग[2]धनुषो यष्टिस्तथास्यास्तनु-
र्लावण्यामृतपूरपूरणमयी सृष्टि[3]परा वेधस ॥७॥

विदूषक कथ सुचिरोपस्थित पश्यन्नपि मा न जानाति प्रियवयस्य[4]। (कध सुइरोवस्थिद पेक्खन्तोबि म अण जाणादि पिअबअस्सो।)

राजा—पुन सा दृष्टि इत्यादि पठति)।

विदूषक—भो वयस्य, कथमेवमननुभूतपूर्वमधीरत्वमाचरन् मय्यपि गोपयसि चित्तगतम्। (भो वअस्स[5] कध एव्व अणणुभूदपुव्व

चेष्टया मोहनाय वशीकरणाय प्रयुक्ताभ्या मन्त्रयन्त्राभ्या जनिता उत्पादिता आकृष्टि आकर्षण सा, भ्रूवल्लि–भ्रूलता, अनङ्गशार्ङ्ग धनुष –अनङ्गस्य कामस्य शार्ङ्गस्य शृङ्गनिर्मितस्य धनुष चापस्य, यष्टि –दण्ड, तथा, अस्या चन्द्रकलाया, तनु –शरीर, लावण्यामृतपूरपूरणमयी–लावण्य सौन्दर्यम् एव अमृत सुधा तस्य पूर प्लाव तेन युक्त पूरण समुद्र तन्मयी, वेधस –स्रष्टु, परा उत्कृष्टा सृष्टि —रचना (वर्तते। अत्र शार्दूलविक्रीडित छन्द ॥७॥

सुचिरोपस्थित—दीर्घकालाद् विद्यमान, मा—विदूषक, पश्यन्नपि—विलोकयन्नपि, प्रियवयस्य —प्रियमित्र, न जानाति। अननुभूतपूर्व-पूर्व

उसी प्रकार उसकी दृष्टि पड़ते के कारण सुख का अनुभव होता है) उसका मुख अलौकिक सौन्दर्य से ससार को आकृष्ट करने वाला, उसकी रस क्रीडा मानो मोहन मत्र का यत्र है। उसकी भ्रूलता, मानो काम देव के शार्ङ्ग धनुष की यष्टि है और सम्पूर्ण शरीर जैसे सौन्दर्य रूपी अमृत से उफनाता हुआ समुद्र है। प्रतीत होता है यह कन्या ब्रह्मा की सर्वश्रेष्ठ रचना है ॥७

विदूषक—क्या कारण है, मित्र! कि इतनी देर से यहाँ उपस्थित देखते हुए मुझे पहिचान नही रहे हो?

राजा—(पुन 'उसकी वही दृष्टि' इत्यादि कहता है)

विदूषक—मित्र! हृदय की अधीरता मुझसे क्यों छिपा रह हो? एसी

१ वल्लि मू० पा०। २ शार्ङ्गी मू० पा०। ३ सृष्टिपरा मू० पा०। ४ प्रिय प्रियवयस्य मू० पा०। ५ अवस्स मू० पा०।

अधीरता आअरन्तो मयिवि गोवेसि चित्तगद ।)

राजा—(पुनस्तदेव पठति) ।

विदूषकः—[उच्चैः] यद्यह रहस्योद्भेदभाजनमपि न ते तदितो गच्छामि । (जइ अह रहस्सभेदवाअण पि ण दे ता इदो गच्छम्मि ।)

राजा—[विलोक्य] कथ समीप एव वर्तते मे प्रियवयस्यो[1] रसालकः । सखे, मया खलु न विदितोऽसि धरणीचिन्तापरवशेन ।

कदापि न अनुभवविषयीकृतम्, अधीरत्वम् अधीरताम्, आचरन्–विदधत्, (उत्पाटिताशेषकण्टकस्य–उत्पाटितानि निर्मूलीकृतानि अशेषकण्टकानि निखिलशत्रवो येन तादृशस्य ।) ——— >

मय्यपि, चित्तगत–हृद्गतभाव, गोपयसि–निगूहयसि । रहस्योद्भेदभाजन–गुप्तवार्ताकथनपात्रम् । रसालक –एतन्नामा विदूष । विशेषेण दूषयति स्व परं वा इति विदूषक वि+दूष्+णिच्+ण्वुल्–अक । अस्य लक्षणमिदम्–'वयस्यश्चाटुपट स एव च विदूषक । अन्त पुरचरो राज्ञा नर्मामात्य प्रकीर्तित ॥' इति सागर । साहित्यदर्पणकारस्य मते–'कुसुमवसन्ताद्यभिध कर्मवपुर्वेषभाषाद्यै । हास्यकर कलहरतिर्विदूषक स्यात स्वकर्मज्ञ ॥ स्वकर्म=मधुरभोजनम्' । धरणीचिन्तापरवशेन–पृथ्वीपालनचिन्ताधीनतया ।

अधीरता इसके पूर्व तो कभी नही देखी गयी ।

राजा—पुन. वही कहता है ।

विदूषक—(उच्च स्वर से) यदि मैं रहस्य-भेद जानने योग्य भी नही हूँ, तो मैं यहाँ से चला जाता हूँ ।

राजा—(देखकर) क्या मेरे प्रिय मित्र रसालक मेरे निकट ही उपस्थित है ? सखे ! राज्य की चिन्ताओ के कारण देख नहीं सका । (मन चिन्ताओ के कारण व्यग्र रहा इसी से ध्यान नही गया) ।

---

१ प्रियवयस्ये मु॰ पा॰ ।

विदूषक—उत्पाटिताशेषकण्टकस्य राज्यपालननियुक्तधीसचिवस्य लितरतिमात्रकौतूहलस्य न खलु ते घरणीचिन्ता किन्तु तरुणी-न्ता। (उद्वाडिदासेसकण्टअस्स रज्जपालणणिउत्तधीसइवस्स लिदरदिमेतकोदूहलस्स ण क्खु दे घरणीचिन्ता किन्तु तरुणी-न्ता[1]।)

राजा—[सभयम्] आ, मिथ्यावादिन्[2]! नीचैः शस[3]।
सन्तलेखैकनिबद्धभावं परासु कान्तासु मनः कुतो मे[4]।
फुल्लमल्लीमधुलम्पटः किं मधुव्रतः काङ्क्षति[5] वल्लिमन्याम् ॥८॥

राज्यपालननियुक्तधीसचिवस्य—राज्यरक्षाया नियुक्तो बुद्धिमान् मन्त्री न तादृशस्य, कलितरतिमात्रकौतूहलस्य—कलितं चिन्तितं रतिमात्रस्य ामक्रीडाया एव कौतूहलं कौतुकं येन तादृशस्य, ते तरुणीचिन्ता, वर्तते, न लु, धरणीचिन्ता। नीचैः शस—मन्दस्वरेण वद।

वसन्तलेखैकनिबद्धभावं—वसन्तलेखायां तदाख्ये नायिकाविशेषे एक वल निबद्धो भावोऽनुरागो येन तत्तादृशं मे—मम, मनः—चित्त, परासु—न्सन्तलेखाभिन्नासु, कान्तासु—सुन्दरीषु, कुतः—कथं गच्छति? अपितु थमपि नेत्यर्थः। तथाहि, प्रफुल्लमल्लीमधुलम्पटः—प्रफुल्लाया

विदूषक—आपने अपने शत्रुरूपी कण्टकों को समूल नष्ट कर डाला है, ासन के लिए योग्य मन्त्रियों को नियुक्त कर लिया है। आप रतिप्रिय रसिक है, निश्चित ही आपको राज्य की नहीं, तरुणी की चिन्ता व्याकुल कर रही है।

राजा—(भयभीत हो) अरे, असत्यवादी! धीरे धीरे ही बोलो।
मेरा हृदय तो वसन्तलेखा में अनुरक्त रहता है, अन्य रमणियों में कैसे (अनुरक्त) हो सकता है (कदापि नहीं)। खिली हुई चमेली के मधुरस में आबद्ध भौरा क्या कभी किसी अन्य लता पर जाने की इच्छा करता है? (कभी नहीं)।८।

१ तरुणि चिन्ता मू० पा०। २ मिथ्यावादिने मू० पा०। ३ नीचैः - सशनिचैः शस मू० पा०। ४ अत्र न इति साहित्यदर्पणे। ५ काक्षति मू० पा०।

विदूषक—भो वयस्य, सत्य। यदा पुनर्मल्लिकापि ग्रीष्मकाल-परिणामेनापसरन्मधुरसा भवति[1], तदा घनकालसमागमेनाभि-स्फुरत्कदम्बवल्लीं[2] सोऽप्यभिलषति। (भो वअस्स, सच्चं। जदा पुण मल्लिआवि गिह्माआलपरिणामेणओसरणन्त महुरसा भोदि तदा घणकालसमागमेण अहिप्फुरन्त[3] कदम्बवल्लि सोवि अहिलसदि।)

राजा—सखे, तूष्णीको भव। अलमनेनालीकपरिहासेन।

विदूषक—[सरोषम्] भो वयस्य, यदीदानीम् अहं रहस्यभेद-भाजनमपि न ते तत् इतो गच्छामि। (भो वअस्स, ज्जइदाणी अहं रहस्समेदभाअण[4] पि ण दे[5] ता इदो गच्छम्मि[6]।)

[इति गन्तुमुपक्रमते]

प्रस्फुटितायां मल्ल्यां मल्लिकाकुसुमस्य मधुलम्पटो मधुपानलोभी मधुव्रत—भ्रमर, किम्, अन्या, वल्लि लता, काङ्क्षति—कामयते ? अपि तु कथमपि नेत्यर्थः। अत्र श्लोके प्रतिवस्तूपमाऽलङ्कारः तथा उपेन्द्रवज्राच्छन्दः ॥८॥

यदा, मल्लिकापि, ग्रीष्मकालपरिणामेन—ग्रीष्मर्तोरवसानेन, अपसरन्मधुरसा-अपसरन् विगलन् मधुरसो यस्याः तादृशी, भवती तदा, घनकालसमागमेन—वर्षर्तोरागमनेन अभिस्फुरत्कदम्बवल्ली—प्रस्फुटत्कदम्बलता, सोऽपि—भ्रमरोऽपि, अभिलषति—वाञ्छति। तूष्णीको भव—मौनमालम्बस्व। अलीकपरिहासेन—मिथ्यापरिहासेन, अलं व्यर्थम् असाम्प्रतमित्यर्थः।

विदूषक—सत्य कह रहे हो मित्र! किन्तु जब ग्रीष्मकाल बीतने पर मल्लिका (चमेली) मधुरस से रहित हो जाती है तब वर्षा के साथ फलने वाली कदम्बलता पर भी जाने की इच्छा वह भौंरा करता है।

राजा—सखे, चुप रहो। छोडो यह व्यर्थ का परिहास।

विदूषक—(क्रोधित होकर) यदि मैं रहस्यभेद जानने योग्य भी नहीं हूँ तो मैं जाता हूँ यहाँ से। (जाने लगता है)

---

१ मधुसा भवत मू० पा०। २ कदम्बवल्लि मू० पा०। ३ अहिप्फुरन्त मू० पा०। ४ हरस्समेदभाअण मू० पा०। ५ वे मू० पा०। ६ गच्छामि मू० पा०।

राजा—[करे धृत्वा] सखे, तिष्ठ तिष्ठ। तद् यथा देवी न जानाति, तथा त्वयाचरणीयम्।

विदूषक—यदा देवी जानाति तदा एवमेव[1] शपामि।

(यदा देवी जाणादि तदा एव ज्जेव सवामि।)

[इति यज्ञोपवीत स्पृशति[2]]

राजा—सखे, अद्य खलु देवीसमीपमुपगच्छता मयान्त. पुरे काऽपि कन्यका दृष्टा। इयं खलु—

तारुण्यस्य विलास समधिकलावण्यसम्पदो हास [3]।
धरणितलस्याभरण युवजनमनसो वशीकरणम् ॥६॥

तारुण्यस्य–यौवनस्य, विलास –प्रकाश यौवनस्यातिशयप्रकाशस्थानमित्यर्थ, समधिकलावण्यसम्पद —समधिकाया प्रचुराया लावण्यसम्पद सौन्दर्य-सम्पत्ते, हास —विकास अतिशयविकासस्थानमित्यथ, धरणितलस्य—पृथ्वीतलस्य, आभरणम्—अतिशयेन अलङ्काररूपा, (तथा) युवजनमनस –युवकाना चित्तस्य, वशीकरणम्–अतिशयवशीकरणहेतु। अत्र दीपिकालङ्कार. आर्याच्छन्द ॥६॥

राजा–(हाथ से पकड़ते हुए) रुको। मित्र! रुको ऐसा करो कि देवी न जानने पायें।

विदूषक—देवी, नही जानने पायेंगी, इसके लिए मैं शपथ खाता हूँ।

(कहकर यज्ञोपवीत छूता है)

राजा–सखे! आज, मैंने अन्त पुर मे देवी के पास जाती हुई एक कन्या को देखा है। यह (कन्या) निश्चय ही—

यौवन का विलास, बिखरते हुए सौन्दर्य की सम्पत्ति का हास, धरती-तल का आभूषण तथा युवको के मन के लिए वशीकरण मत्र है। ॥६॥

---

१ एव मे मू० पा०। २ पृशति मू० पा०। ३ समधिकसम्पदा हास. मू० पा०।

विदूषकः—ततः किं तया प्रतिपन्नम् ? (तदो किं ताए पडिवण्ण ?)

राजा—अनन्तर च—

मुहुः स्मेरापाङ्ग दरविगलिता[1] कुचितपुट
वितन्वाना दृष्टा परिमितनिमेष मयि मनाक् ।

विदूषक—राशीकृतानि मरुता नवखण्डकूट-
तुल्यप्रभाणि सहकारप्रसूनकानि ।
चित्त हरन्ति गुडलड्डुकस्वच्छभावा-
क्रूरप्रभिन्नमुकुलाश्च अशोकगुच्छा ॥१०॥
(रासिक्दाइ[2] मरुताणवखण्डकुड-
तुल्लपहावाइ सहआरप्पुसुणआइ
चित्त हरन्ति गुडलड्डुअसच्छभावा-
कूरप्प[3] भिन्नमउलाअ अशोअगुच्छा ॥१०॥)

ततः, तया—कन्यकया, किं प्रतिपन्नम्—किं कृतम् ?

मुहुः—भूयो भूयः, दरविगलिताकुचितपुट—किंचित्सकारितनयन, स्मेरापाङ्ग—स्मितिपूर्वक नेत्रयोरन्त, मयि, मनाक्—ईषत्, वितन्वाना—विस्तारयन्ती, (सा) परिमितनिमेष—क्षण यावत्, दृष्टा—विलोकिता ।
मरुता—वायुना, राशीकृतानि—सञ्चितानि, नवखण्डकूटतुल्यप्रभाणि—

विदूषक—तब उसने क्या किया ?

राजा—और तब—मैंने कुछ क्षणो तक देखा कि वह मेरी ही ओर अपने अर्द्धनिमीलित नेत्र-कटाक्षो से मुसकराती हुई देख-सी रही थी ।

विदूषक—नयी खांड के ढेर की भाँति वायु के द्वारा गिराये गये आम के बौरो का समूह और गुड के बने विमल लड्डू की तरह अशोक के फूलो के ये गुच्छे, क्रूर वायु ने जिनके मुकुलो को प्रस्फुटित कर दिया है, अपने दर्शनमात्र से चित्त को चुरा लेते है ॥१॥

१ दरविलिता मू० पा० । २ क्दाइ मू० पा० स्खलित । ३ केलण्ड मू० पा० ।

[ततः प्रविशति[1] 'सखि, पश्य पश्य' इति[2] नाटयन्ती चन्द्रकला सुनन्दना च]

चन्द्रकला—[दीर्घं निःश्वस्य स्वगतम्] अपि नाम[3] एष महाराजः[4] पुनरपि मे लोचनपथालंकरणं[5] भवेत्। (अवि णाम एसो महाराओ पुणोवि मे लोअणपथालंकरणं भवे।)

सुनन्दना—अद्य प्रियसखि! (अदि पिअसहिए!)

[इत्युभे माधवीलतायाः कुसुमावचयं नाटयतः।]

विदूषकः—[अग्रतः अवलोक्य साश्चर्यम्] आश्चर्यं, कथमिह महीतले सुरकन्यका परिभ्रमति! (अम्मो, कइ इध[6] महिदले

नवीनशर्करारराशिसमकान्तीनि, सहकारप्रसूनकानि—आम्रमञ्जर्यः, (तथा) गुडलड्डुकस्वच्छभावाकूरप्रभिन्नमुकुलाः—गुडमोदकवत् स्वच्छभावेन तथा मार्दवेन प्रभिन्नानि प्रस्फुटितानि कुड्मलानि येषां तथाभूताः, अशोकगुच्छाः—अशोकस्तवकाः, च, चित्तं, हरन्ति—आकर्षन्ति। अत्र इन्द्रवज्राच्छन्दः ॥१०॥ नाटयन्ती—अभिनयन्ती। दीर्घं—दीर्घकालं यावत्, निःश्वस्य—श्वासमाकृष्य, स्वगतम्—परैरश्रुततया मनस्येव केवलं चिन्त्यते—यथा साहित्यदर्पणे—'अश्राव्यं खलु यद्वस्तु तदिह स्वगतं मतम्' स्वगतम् आत्मगतं च पर्यायौ। लोचनपथालंकरणम्—दृष्टिपथस्य शोभा दृष्टिगोचरः इति यावत्। कुसुमावचय—

[इसके पश्चात् सखि, देखो देखो कहती हुई चन्द्रकला, और सुनन्दना प्रवेश करती है।]

चन्द्रकला—(निःश्वास के साथ स्वयं) क्या यह सम्भव है कि महाराज पुनः मेरे दृष्टि पथ को शोभित कर सकें?

सुनन्दना—आज ही प्रिय सखि! [दोनों माधवीलता का पुष्प-चयन करने का नाटय करती है।]

विदूषक—(सामने देखकर आश्चर्य से) आश्चर्य है, क्या देव-कन्या

१ अथ मू॰ पा॰ नास्ति। २ ईय मू॰ पा॰। ३ ना मू॰ पा॰। ४ महाराज मू॰ पा॰। ५ यथा मू॰ पा॰। ६ ईद मू॰ पा॰।

सुरक्कण्णआ[1] परिब्भमदि ।)

राजा—अधो विन्यस्यन्ती मुखकमलमुद्भिन्नपुलकम् ।
क्वचिन्नीता बाला द्रुतमहह देवीपरिजनैः ॥११॥

विदूषक—तत किं तया आचरितम्? (तदो किं तए आचरिदम्?)

राजा—सखे, किमन्यत्? अनया खलु वध्वा निजगुणसर्घैर्भृश समाकृष्टचेतसः प्रसभ हृदये दिवानिश मे भवति मदनानलो ज्वालित ।[2]

पुष्पत्रोटन, नाटयत—अभिनयत । महीतले—भूतले, सुरकन्यका—देवबाला, परिभ्रमति—इतस्तत सञ्चरति ।

उद्भिन्नपुलक—रोमाञ्चित, मुखकमलम्, अध—नीचै, विन्यस्यन्ती—कुर्वन्ती, बाला—सा कन्यका, अहह इति खेदे, द्रुत—शीघ्र, देवीपरिजनै—महारानीपरिचारिकाभि, क्वचित्—कुत्रचित्, नीता—प्रापिता । अस्य श्लोकस्य पूर्वार्धं 'मुहु स्मेरापाङ्गम्' इत्यादि । अत्र शिखरिणीच्छद ॥११॥

वध्वा—स्त्रिया, निजगुणसर्घै—स्वकीयगुणसमूहै, भृशम्—अत्यर्थं, समाकृष्टचेतस—अपहृतचित्तस्य, मे—मम, हृदये, दिवानिश—रात्रिन्दिव, प्रसभ—बलात्, मदनानल—कामाग्नि, ज्वालित—सन्दीपित ।

पृथ्वी-तल पर घूम रही है?

राजा—ओह! पुलकायमान (रोमांचित) मुख-कमल को नीचे की ओर किए हुए वह बाला महारानी की परिचारिकाओं द्वारा कहीं दूर हटा दी गयी ॥११॥

विदूषक—इसके बाद उसने क्या किया?

राजा—सखे! क्या कहूँ? उस बाला ने तो अपने गुणों के द्वारा मेरे चित्त को इस भाँति आकृष्ट कर लिया है कि मेरे हृदय में रात-दिन कामाग्नि जलती रहती है।

१-सुरकण्णआ मू० पा० । २ सखे किमन्यत्? अनया खलु वध्वा निजगुणसर्घैर्भृशं गृहीत्समाकृष्टचेतस प्रसभहृदये दिवानिश मे दोदि मदनानलो ज्वलित मू० पा०।

विदूषकः—आश्चर्यम्, तदविलम्बितं परिसृत्य दीर्घिकोद्धृतसलिलकुम्भेन निर्वाप्यतामेष वह्निः। (हिमाणहे, ता अविलम्बिदं पसिरिअ दिहिआश्चिअ सलिलकुम्भेण णिव्वावअदु एसो बह्निः।)

राजा—[ईषद् विहस्य] सखे,

परिहाय सुधाधारां तामेव मृगलोचनाम्।

याति[1] निर्वाणतामेष,कथ्यतां कथमन्यथा ॥१२॥

विदूषकः—भो वयस्य, तत् किम् ईदृशावस्थागतेनापि त्वया एतावन्त कालं तूष्णीकेन वृत्यते ? अथ को वा चिन्तितस्तस्याः[2]

तत—तस्मात्, अविलम्बितं—शीघ्रं, परिसृत्य—गत्वा, दीर्घिकोद्धृतसलिलकुम्भेन—वापीतः घटेन जलमुद्धृत्य, एष वह्नि—मदनानलः, निर्वाप्यताम्—प्रशम्यताम्।

सुधाधाराम्—अमृतधारामिव, तामेव, मृगलोचना—हरिणाक्षी, परिहाय—त्यक्त्वा, अन्यथा—अन्यप्रकारेण, एष—वह्नि, कथ, निर्वाणतां—शान्ति, याति—गच्छति, (इति) कथ्यताम्—उच्यताम् ॥१२॥

ईदृशावस्थागतेनापि—इमा दशा प्राप्तेनापि, तूष्णीकेन—मौनिना, वृत्यते—स्थीयते।

विदूषक—बड़ा ही आश्चर्य है, तब तो आप तुरन्त बिना विलम्ब किए घड़ा लेकर जाइए और तालाब से जल लाकर इस अग्नि को शान्त कीजिए।

राजा—(मुसकराकर) सखे !

यह अग्नि केवल अमृत की धारा के समान उसी मृगनयनी से शान्त हो सकती है, अन्य किसी भी उपाय से असम्भव है ॥१२

विदूषक—भो मित्र ! तो ऐसी दशा को प्राप्त हो जाने पर भी इतने समय तक शान्त क्यों हैं ? अथवा उसकी प्राप्ति के लिए कोई उपाय सोचा ?

१ यातु मू० पा०। २ चित्तस्तस्याः मू० पा०।

सङ्गमोपायः ? (भो वअस्स, ता किं ईदिसा अवत्थागदेणावि तए[1] एत्तिकं कालं तुह्णिकेण वट्टीदो ? अध मेवा चित्तदो तस्ससङ्गमोवाओ ?)

राजा—सखे, अनया[2] वद्धसख्यया सुनन्दनया[3] कुसुमावचयव्याजादिदानीमेव लीलोपवनमानीता तत्रैव महाराजनयनपथातिथिर्भवत्विति प्रतिताम्य। [सविस्मयम् अङ्गानि[4] निर्दिश्य] कथमत्र—

अब्जद्वन्द्वमहर्निशं विकसितं सौवर्णमत्राहितं
रम्भास्तम्भयुगं ततश्च पुलिनं लावण्यवारिप्लुतम्।

बद्धसख्यया—बद्धं दृढमूलं सख्यं मैत्री यस्याः तादृश्या, कुसुमावचयव्याजात्—पुष्पचयनमिषात्, लीलोपवनं—क्रीडोद्यानं, महाराजनयनपथातिथिः—महाराजस्य दृष्टिगोचरी भवतु, इति, प्रतिताम्य—विचार्य। अङ्गानि नायिकाया इति शेषः।
अहर्निशं—रात्रिन्दिवं, विकसितं, सौवर्णं—स्वर्णनिर्मितम्, अब्जद्वन्द्वं—कमलद्वयं (पादद्वयम्) अत्र—नायिकायाः शरीर इत्यर्थः, आहितं—स्थितं (वर्तते), (तदुपरि) रम्भास्तम्भयुगं—कदलीस्तम्भद्वयं (जंघाद्वयं),

राजा—सखे! इस समय उसकी सखी सुनन्दना पुष्प-चयन के बहाने उसे लीला-उपवन में इसी विचार से ले आयी है कि वहीं पर कदाचित् महाराज के नेत्रों की अतिथि यह हो जाय (महाराज का दर्शन हो जाय, अथवा महाराज इसे देख लें।) [विस्मय के साथ अंगों की ओर निर्देश करके] क्या यहाँ—

रात दिन एक तरह से विकसित रहने वाले दो स्वर्ण-कमल (ललाई से भरे चरण) स्थित हैं। उनके ऊपर कदली के दो स्तम्भ (जाँघें) हैं। उसके बाद सौन्दर्य के जल में डूबा हुआ (न दिखाई पड़ने वाला) पुलिन (कटि-तट)

१ ईदसा अवस्थागदेणात्थिदए मू० पा०। २ अनया मू० पा०। ३ बद्धसख्यासुनन्दना मू० पा०। ४ सविस्मयविस्मयाङ्गानि मू० पा०।

तस्मिन्नुन्मदकुम्भिकुम्भयुगलं रत्नैकलेखावृतं[1]
राजत्यत्र पुनः कलङ्करहितः शीतद्युतेर्मण्डलः ॥१३॥

[विचिन्त्य] नूनमियमन्तर्निहित[2] प्रमदनविकारा वर्तते, यतः--

हसति परितोषरहितं निरीक्ष्यमाणापि नेक्षते किमपि।
सख्यामुदाहरन्त्या[3] मसमञ्जसमुत्तर दत्ते ॥१४॥

ततश्च—तदुपरि च, लावण्यवारिप्लुत-सौन्दर्यजलभरितं, पुलिन-(कटि-) तटं, तस्मिन्—तदुपरि, उन्मदकुम्भिकुम्भयुगल—मत्तगजस्य कुम्भद्वयम् (इव कुचद्वन्द्व), रत्नैकलेखावृतं—रत्नावल्या शोभितम्, अत्र पुनः, कलङ्करहितः-निष्कलङ्कः, शीतद्युतेर्मण्डलः—चन्द्रमण्डलः (मुख), राजति—शोभते अत्र। शार्दूलविक्रीडित छन्दः ॥१३॥

नूनं—निश्चितम इयं—नायिका, अन्तर्निहितप्रमदनविकारा—अन्तः मनसि निहितः आहित प्रमदनविकार कामवेगो यया सा तादृशी, वर्तते।

परितोषरहितं—सन्तोषवर्जितं यथा, स्यात् तथा हसति, निरीक्ष्यमाणापि—अवलोक्यमानापि, किमपि, नेक्षते—न पश्यति। सख्याम्—

है। उस सौन्दर्यजल के बीच मतवाले हाथी के मस्तक के उभड़े हुए दो भाग (जैसे दो स्तन) रत्न (मोती) की एकावली माला से आभूषित हैं। और पुनः इनके ऊपर कलङ्करहित चन्द्रमण्डल (मुख) चाँदनी सरसा रहा है ॥१३॥

(सोचकर) निश्चित ही यह भी अन्दर काम से पीडित है, क्योंकि यह हंसती है, पर सन्तोषपूर्वक नहीं (खिलकर नहीं) वह कुछ देखती भी प्रतीत होती है परन्तु देख कुछ भी नहीं रही है, उसकी सखी उससे जो कुछ कहती है, उसका भी वह उचित उत्तर नहीं देती ॥१४॥

---

१ रत्नकलेशोहृत मू० पा०। २ अन्तर्मिहित मू० पा०। ३ रास्यामुदाहरन्त्यम्.......... मू० पा०।

विदूषक—[चन्द्रकलां निर्दिश्य] भो वयस्य, तदिदानीम् अमुया सुधाधारया निर्वापयतु ज्वलित मदनानलं[1]। (भोवअस्स, तादाणी ईमाए सुधाधाराए णीव्वाविअदु[2] जलिदो मदणाणलो।)

राजा—सखे, इदमेवोचितमिदानीम्[3]। तथापि क्षणमिहैव लतान्तरितौ रहस्यवृत्तिमालोकयावस्तावदेतस्या।

[इत्युभौ लतान्तराले[4] प्रविशत]

चन्द्रकला—[दीर्घं नि:श्वस्य स्वगतम्] हृदय, हृदय, तादृशदुर्लभार्थविहितनिबन्धस्य[5] समुचिता ते ईदृशी अवस्था।
(हिअअ, हिअअ, तादिसदुल्लहत्थविहिदणीवद्धस्स[6] समुइदा अवस्था।)

आल्याम, उदाहरन्त्या—यत्किञ्चिदवदन्त्या सत्याम्, असमञ्जसम्—अयुक्तम् उत्तर, दत्ते—ददाति ॥१४॥

भो वयस्य—हे मित्र! तत्, इदानीम्, अमुया—दृश्यमानया सुधाधारया—अमृतधारया, ज्वलित—प्रदीप्त, मदनानल—कामाग्नि, निर्वापयतु—प्रशमयत। लतान्तरितौ—लतामध्ये गुप्त स्थित्वेत्यर्थ, एतस्या—बालाया रहस्यवृत्ति—गुप्तचेष्टाम्, आलोकयाव—पश्याव। लतान्तराले—लतामध्ये। तादृशदुर्लभार्थविहितनिबन्धस्य—तादृशे दुर्लभार्थे दुष्प्राप्ये वस्तुनि विहित कृत निबन्ध दुराग्रहो येन तादृशस्य,

---

विदूषक—(चन्द्रकला को निर्देश कर) हे मित्र! तो अब इस अमृतधारा से, जलती हुई कामाग्नि को बुझाओ।

राजा—इस समय उचित यही है मित्र। फिर भी क्षणभर हम दोनो लता की ओट मे रहकर तब तक इसकी गुप्त क्रियाओ को देखें।

[इसके बाद दोनो लता की ओट मे प्रवेश करते हैं]

---

१ ज्वालितो मदनानल मू० पा०। २ णीव्वाविअअदु मू० पा०। ३ इदमेवोचितमिदानीं मू० पा०। ४ लतान्तरितौ मू० पा०। ५ निबद्धस्य मू० पा०। ६ ता हिअअ — [illegible] मू० पा०।

सुनन्दना—सखि चन्द्रकले[1], इद खलु अत्र स्तोकोन्नताया केशर-लताया शाखाया[2] वर्तते रमणीय कुसुमम्। तदिदानीम् उच्चिनोतु एतत् प्रियसखी। (हला चन्दअले, इद क्खु एथ्थ थ्थोकउन्नदाए केसरलदादाए साहाए वट्टदि रमणिज्ज कुसुम। ता दाणी उच्चिणोदु[3] त पिअसही।)

राजा—[निशम्य] शृणु तावत्। चन्द्रकलेति नामास्या।

विदूषक—भो वयस्य, त्वमपि[4] महीमहेश्वर। (भो वअस्स[5] तुमपि महीमहेसरो।)

राजा—तत किम्।

विदूषक—तद्युक्त खलु ते शिरसि निधानमेतस्या। (ताज्जुत्त क्खु दे सिरसि णिधाण एदाए।)

स्तोकोन्नताया—अल्पोच्छ्रिताया। महीमहेश्वर—पृथिव्या प्रभु पक्षे महेश्वर शकर चन्द्रकला इन्दुकलेति बोध्यम्। एतस्या—चन्द्रकलाया, निधान—रक्षण।

सुनन्दना—सखि चन्द्रकले! इसी थोडी सी ऊँची केशरलता की शाखा पर एक अत्यन्त सुन्दर पुष्प है। प्रिय सखी, तुम इसे तोडो।

राजा—(सुनकर) मित्र! सुनो, इसका नाम चन्द्रकला है।

विदूषक—तुम भी मही (पृथ्वी) के महेश्वर (राजा) हो। (पृथ्वी के पक्ष मे राजा, चन्द्रकला के पक्ष म शकर।)

राजा—तो इससे क्या?

विदूषक—निश्चय रूप से आपके सिर पर इसे प्रतिष्ठित होना उचित है। (आपके साथ इसका परिणय उपयुक्त होगा।)

---

१ इदं सखी चन्द्रकले मू० पा०। २ केशरलताया शाखाया मू० पा०। ३ उच्चिणोदु मू० पा०। ४ त्वमिति मू० पा०। ५ वस्स मू० पा०।

राजा—[ईषद् विहस्य] सखे, कथमीदृशो मादृशाना भाग्योदय.।
[चन्द्रकला बाहुमुन्नमय्य उन्नतशाखागतकेशरकुसुमावचय नाटयति]

राजा—[सस्पृहमालोक्य] सखे, पश्य खल्विदानी[1]—

दरप्रकाशे कुचकुम्भमूले द्रुत निषक्त्य द्रुतकर्वुराभे[2]।
लावण्यपूरे विनिमग्नमुच्चैर्न मे[3] कदाचित् वहिरेति चेत: ॥१५॥

विदूषक:—नदविलम्बित कैवर्त प्रवेश्य उत्तोलयतु। (ताताविलम्बिद केवट्ट पवेसिअ उत्तोलिअदु।)

उन्नमय्य—उत्थाप्य, उन्नतशाखागतकेशरकुसुमावचयम्—उन्नतासु शाखासु स्थिताना केशरकुसुमानाम् अवचय त्रोटन। सस्पृहम्—स्पृहया अभिलाषेण सहित यथा स्यात् तथा, आलोक्य—दृष्ट्वा।

दरप्रकाशे—ईषद्दृश्यमाने, द्रुतकर्वुराभे—द्रवीभूतस्वर्णस्य आभा कान्ति इव आभा यस्य तादृशे, लावण्यपूरे—सौन्दर्यप्रवाहे, कुचकुम्भमूले-घटाकार स्तनयो मूलदेशे, उच्चै—साधुतर, विनिमग्न—मग्नीभूत, मे—मम, चेत-मन, कदाचित्, वहि न, एति प्राप्नोति। अत्र उपजातिच्छन्द ॥१५॥

कैवर्त—धीवर, प्रवेश्य, (स्व चित्तम्) उत्तोलयतु—ततो निष्कासयतु।

राजा—(कुछ मुसकरा कर) मित्र! मुझ जैसे व्यक्ति का ऐसा भाग्य कहाँ है?

[चन्द्रकला बाहुओं का उठाकर ऊपर उठी हुई केशरशाखा के पुष्प को तोडने का प्रयास करती है]

राजा—(लालच के साथ देखकर) मित्र! देखो, इस समय—

इसके घट सदृश कुचों का मूल भाग जो कुछ-कुछ दिखाई दे रहा है, जिसकी कान्ति पिघले हुए सुवर्ण की-सी है और जो मानो सौन्दर्य की धारा है, मे बुरी तरह डूबा हुआ मेरा चित्त वाहर नहीं निकल रहा है ॥१५॥

विदूषक—विलम्ब न करें! तुरन्त मल्लाह को भेजकर उसे ऊपर वाहर निकलवाइए।

---

1 खल्विदान मू० पा०। 2 कर्वुराम्भे मू० पा०। 3 निमे मू० पा०।

राजा—अहो सुबुद्धिता प्रियवयस्य[1]।

सुनन्दना—सखि, पश्य पश्य, इय खलु उन्मीलत्परिमल सहकार-पादपम् अचिरेणैव आलिङ्गिष्यति नवकुसुमिता बालमाधवीलता[2]। (हला पेक्ख, पेक्ख, इय क्खु उन्मीलन्तपरिमल सहआरपादव अइरेणज्जेव आलिङ्गिस्सदि णवकुसुमिदा बालमाहवीलदा[3]।)

चन्द्रकला—[सविकारमिव पश्यति]

विदूषक—भो वयस्य, शृणु तावत्[4], साभिप्राय खलु इद वचनम्। (भो वअस्स, शुणु दाव साभिप्पाअ क्खु एद वअण।)

राजा—न खलु सम्भावयामि मे पुण्यपरिपाकमीदृशम्।

सुनन्दना—सखि, अमुष्या नवमालिकाया मया उच्चीयन्ते कुसुमानि। त्वया पुनस्तस्या माधवीलताया उच्चीयन्ताम्।

सुबुद्धिता—बुद्धिमत्ता (इय व्यग्योक्तिरत्र)। नवकुसुमिता—नवपुष्पिता। बालमाधवीलता। उन्मीलत्परिमलम्—विकिरत्सौरभम्, सहकारपादपम्—आम्रवृक्षम्, अचिरेणैव—शीघ्रमेव, आलिङ्गिष्यति—परिष्वक्ष्यते, साभिप्रायम्—तात्पर्यसहितम्। पुण्यपरिपाक—सौभाग्यम्, कुसुमानि—पुष्पाणि उच्चीयन्ते—त्रोटयन्ते।

राजा—मित्र तुम्हारी बुद्धि प्रशसनीय है।

सुनन्दना–सखि ! देखो, देखो, नवपुष्पित बाल माधवी लता शीघ्र ही, सौरभित आम्रवृक्ष का आलिगन करने वाली है।

चन्द्रकला—(व्याकुल, उन्मादित हृदय से देखने लगती है)

विदूषक—मित्र ! अब यह अभिप्राय युक्त वार्तालाप सुनो।

राजा–मित्र ! अपने पुण्यकर्मो से ऐसी आशा नही करता (हमारे पुण्य-कर्म ऐसे नहीं हैं)

सुनन्दना–सखि ! इस नवमल्लिका के पुष्पो को मै तोड रही हूँ। तुम उस माधवीलता के फूलो को तोडो।

---

१ प्रियवयस्यस्य मू० पा०। २ अत्र बालइति मू० पा० नास्ति। ३ बालमाहवीलदा मू० पा०। ४ शृण तावत् शृण तावत् मू० पा०।

(हला, इमाइणोमालिआए मए[1] उच्चिणिअन्ते[2] कुसुमाइं । तस पुणताए माहवीलदाए उच्चिणीअन्तु ।)

[इति राजालङ्कृता माधवीलतामङ्गुल्या निर्दिशति]

चन्द्रकला—यद्रोचते प्रियसख्यै । (यं रोअदि पिअसहिए ।)

[इति गच्छति]

[राजानमवलोक्य सचकितव्रीड मुख[3] नमयन्ती स्तम्भमभिनीय सानन्द स्वगतम्] आश्चर्यं, कथ फलितोऽपि मे अमनोवृत्तिसम्भावनीयो मनोरथद्रुम । (अम्महे, क्व फलिदोवि मे अमणवुत्तिसम्भावणिज्जो[4] मणोरथद्दुमो ।)

राजा—[सहर्षमुपसृत्य] प्रिये, [आत्मान निर्दिश्य] प्रिये, कथय, कथय—

अङ्गानि खेदयसि किं शिरीषकुसुमपरिपेलवानि[5] मुधा ।

राजालङ्कृता—यत्रान्तरितो राजा विराजमान आसीत् ताम् । सचकितव्रीडम्—आश्चर्यलज्जाभ्यां सहितम् । स्तम्भ—निश्चलताम, अभिनीय—नाटयित्वा ।

[इस प्रकार कहती हुई, राजा से शोभित माधवीलता का अँगुलियों से निर्देश करती है ।]

चन्द्रकला—जो मेरी सखी को अच्छा लगे । (जाती है)

[राजा को देख कर आश्चर्य और लज्जा से सिर नीचे किए हुए स्तम्भित (शिथिल) हो जाती है । फिर सहर्ष और स्वय]

ओह ! क्या मेरा मनोरथवृक्ष फलित हो गया ? मैंने तो ऐसी कभी सम्भावना भी नहीं की थी ।

राजा—(सहर्ष समीप पहुँचकर) प्रिये ! कहो-कहो

शिरीष पुष्प से कोमल अपने इन अगो को यह व्यर्थ मे क्लेश

---

१ मए इति मू० पा० नास्ति । २ चिच्चिणीअन्त मू० पा० । ३ अत्र 'मुख' इति मू० पा० नास्ति । ४ अमणवुत्तिसम्भावण तजा मू० पा० । ५ शिरीषपरिपेलवानि मू० पा० ।

अयमीहितकुसुमाना सम्पादयिता तवास्ति दासजन [1] ॥१६॥

सुनन्दना—[जनान्तिकम्] सखि, कथ त्वया दर्शनमात्रकेणापि[2] वशीकृतो भर्ता। (हला, कध तए दसणमेत्तकेणावि एव वसिदो भट्टा।)

चन्द्रकला—सखि, किमिति त्वया वितथपरिहासेन अहमुपहस्ये। हला, किं तए भिदधपरिहासेण अह उवहसीअदि।)

राजा—[चन्द्रकलाया मुख निर्दिश्य] प्रिये, कथय, कथय,

असावन्तश्चञ्चद्विकचनवनीलाब्जयुगल-
स्तलस्फूर्जत्कम्बुर्विलसदलिसघात उपरि।

शिरीषकुसुमपरिपेलवानि,—शिरीषपुष्पवत् सर्वथा सुकुमाराणि, अङ्गानि—अवयवानि, किं—कस्मात्, मुधा—अनर्थं, खेदयसि—पुष्पचयनेन परिश्रमयसि ? अयम्—अह, दासजन, तव, ईहितकुसुमाना—चेतुमिष्टाना पुष्पाणा, सम्पादयिता—चयनकर्ता अस्ति अत्र सक्षेपालङ्कार उपगीतिच्छन्द ॥१६॥

जनान्तिकम्—एकान्ते अन्यान् वञ्चयित्वा परस्परालापा । यदुक्तं सागरे—'वञ्चयित्वैकमन्योन्यं द्वाभ्यां यत्खलु पठ्यते। जनान्तिकं तु तत्कार्यं त्रिपताकेन पाणिना ॥' वितथपरिहासेन—अलीकपरिहासेन । अहम् उपहस्ये—मम उपहास करोषीत्यर्थ ।

सुमुखि—शोभनानने ! अन्तश्चञ्चद्विकचनवनीलाब्जयुगल —

क्यों दे रही हो ? (स्वग को दिखाकर) तुम्हारे इच्छित (रुचि के) पुष्पो के तोडने के लिए तो तुम्हारा यह सेवक उपस्थित है ॥१६॥

सुनन्दना—(एकान्त मे) सखि ! केवल दर्शनमात्र से तुमने महाराज को अपने वश मे कैसे कर लिया ?

चन्द्रकला—सखि, तुम व्यर्थ मेरा उपहास क्यों कर रही हो ?

राजा—(चन्द्रकला के मुख की ओर देख कर) प्रिये ! कहो-कहो—हे सुमुखि ! यह लोकोत्तर निष्कलङ्क चन्द्रमा तुम्हे कहाँ से प्राप्त हो गया ?

---

१ साहित्यदर्पणे श्लोकस्य उत्तरार्धात् पूर्वम 'आत्मान निर्दिश्य' इति पाठ ।

विना दोषासङ्गं सततपरिपूर्णाखिलकलं[1]
कुतः प्राप्तश्चन्द्रो विगलितकलङ्कः सुमुखि ते ॥१७॥

चन्द्रकला—सखि, आगच्छ आगच्छ। इत[2] इदानीं गच्छाव। देवी खलु आवामनुसरिष्यति। आश्चर्यं, कुतो गच्छन्त्या मम चरणौ न गच्छतः। (हला, आअच्छ, आअच्छ। इदो दाणीं गच्छम्ह। देवी क्खु अम्मे अणुसरिस्सदि।) [इति गच्छन्ती स्तम्भमभिनीय] अव्वो, कुदो गच्छन्तिए मए[3] चरणा ण गच्छदि।)

अन्तर्मध्यभागे चञ्चद् विलसद् विकच प्रस्फुट नव नूतन नीलाब्जयुगलं नयनद्वयरूपं यस्य तादृशं, तलस्फूर्जत्कम्बु—तले अधोदेशे स्फूर्जत् शोभमानः कम्बुग्रीवारूपः शङ्खः यस्य तादृशं, उपरि—उपरिभागे, विलसदलिसंघातं—विलसन् विचरन् अलिसंघातो भ्रमरसमूहो यस्य तादृशं, सततपरिपूर्णाखिलकलं—सततं परिपूर्णा अखिला कला यस्य तादृशं, (तथा) विगलितकलङ्कः—कलङ्कशून्यः, असौ मुखरूपश्चन्द्रः, दोषासङ्गं—रात्रिसम्पर्कं विनापि, ते—तव समीपे, कुतः, प्राप्तः—उपस्थितः ? अत्र उपमाऽलङ्कारः, शिखरिणीच्छन्दः। १७॥

अनुसरिष्यति—पश्चादागमिष्यति। चरणौ न गच्छतः—पादौ न चलतः।

जिसमें दो विकसित नील कमल शोभित हो रहे हैं, । चन्द्रमा के तल भाग में शङ्ख अपनी छवि बिखेर रहा है, और ऊपर भ्रमरावलि क्रीडा कर रही है। तथा जो बिना रात्रि के ही समस्त कलाओं से पूर्ण होकर उदय हुआ है ॥ १७॥ (कवि ने चन्द्रकला के मुख की समानता निष्कलङ्क चन्द्रमा से, नेत्रों की नील कमल से, ग्रीवा की शङ्ख से, और केशों की नेत्र-कमल पर बिखरे भ्रमरावलि से दी है।)

चन्द्रकला—सखि ! आओ, आओ हम दोनों भी इस स्थान से चलें। महारानी हमारा अनुगमन करेंगी (हम दोनों की खोज करायेंगी) [ऐसा कहकर चलती है और स्तम्भित होने का बहाना करने लगती है] बड़ा आश्चर्य है, मैं जब चलना चाहती हूँ तो हमारे पैर बढ़ते नहीं।

१ किल मू० पा०। २ इति मू० पा०। ३ मत्तए मू० पा०।

सुनन्दना—[जनान्तिकम्] हला यत चित्त न गच्छति[1]।
(हला, जदो चित ण गच्छदि ।)

चन्द्रकला—[सस्मितम्] सखि, सर्वथा न विरमसि परिहासत.[2]।
(हला, सव्वधा ण विरमसि परिहासादो ।)

सुनन्दना—सखि, प्रथमतोऽपि त्वया पाशककेलौ तव स्वहस्तोच्चे तव्या[3] सहकारपल्लवा मह्य धार्यन्ते[4], तदुच्चीयन्ता मेते पश्चात्पुनर्यथासुख गच्छतु प्रियसख्यो[5]। (हला, पतमदोवि[6] तए पासेअकेलिए तुहि सहथ्थउच्चिणिदव्वा सहआरपल्लवा मे धारी-अन्ति । ता उच्चिणेदु एदे । पुच्छा पुण जधासुह गच्छदु पिअसहि ।)

[चन्द्रकला तथा करोति]

राजा—[सस्पृहमालोक्य]

सस्मितम्—ईषद्धास्ययुक्त यथा स्यात् तथा । न विरमसि—न विरता भवसि । पाशककेलौ—अक्षक्रीडाया, त्वया, स्वहस्तोच्चेतव्या—निजहस्ताभ्या त्रोटनीया सहकारपल्लवा.—आम्रपल्लवा , मह्य धार्यन्ते । अथ भाव ग्लहे त्वं मया जिता असि ।अतएव यान् सहकारपल्लवान् त्व मह्य धारयसि तान उच्चीय पूर्व देहि ततो यथेच्छ याहि । अत्र 'धारेरुत्तमर्ण ' इति सूत्रेण चतुर्थी ।

सुनन्दना—(एकान्त मे) इसलिए कि चित्त यहा स नही हटता ।

चन्द्रकला—(मुसकरा कर) तुम परिहास करना नहीं छोड़ती हो ।

सुनन्दना—सखि ! तुम्हारे ऊपर जो हमारे आम्रपल्लव तोडने शेष है, (जो तुम हमारे आम्रपल्लव तोडना धारण करती हो) पहले अपने हाथा से उन्हे तोडकर मेरा ऋण चुका दो (मुझसे निवृत्त हो लो) , हे प्रिय सखि ! उसके पश्चात् अपनी इच्छानुसार आनन्दपूर्वक जहाँ चाहो जाओ ।

(चन्द्रकला पल्लव तोडने लगती है)

राजा—[अनुराग से देखकर]

---

१ अय मू० पा० नास्ति । २ अयमपि मू० पा० नास्ति । ३ स्वहस्तोचेतव्या. मू० पा० । ४ मयार्यते मू० पा० । ५ तदुच्चीयतामेते मू० पा० । ६ प्रीयसखी मू० पा० ।

चूतपल्लवचयं निजकान्त्या खण्डितं प्रथममेव मृगाक्षि ।
यत्करं कररुहेण पुनस्ते खण्डयत्यनुचितं परमेतत् ॥ १८ ॥

चन्द्रकला—[पुलकस्वेदमभिनीय सखीं प्रति] सखि, गृहाणेदम्। अहं गच्छामि। (सहि, गेह् ण एदं। अहं गच्छम्मि।)

[इति गन्तुमुपक्रमते]

विदूषक—भवति, सकलानां पृथिवीसमुत्पन्नानां षडंशभागिनो राजानो भवन्ति। तस्मात् कथं त्वम् उच्चितकुसुमपल्लवानां षष्ठांशं प्रियवयस्यस्यादत्वा गन्तुमभिलषसि?
(भोदि, सअलाण पुहविसमुग्गाण सट्टंस भाइणो राआणो होअन्ति। ता कथं तुमं उच्चिणिदकुसुमपल्लवाणां सट्टंसं पिअवअस्सस्स अदाउण गन्तुं अहिलससि?)

राजा०—हे मृगाक्षि—मृगलोचने!, यत्, ते, करं—हस्तं, प्रथममेव—पूर्वमेव, निजकान्त्या—स्वद्युत्या, खण्डितं—पराजितं, चूतपल्लवचयम्,—आम्रपल्लवसमूहं पुनः—भूयः, कररुहेण—नखेन, खण्डयति—छिनत्ति, एतत्, परम्, अनुचितम्। अत्र स्वागताच्छन्दः ॥ १८ ॥

पुलकस्वेदम्—आनन्देन रोमाञ्चम्, भयेन च घर्मम्। पृथिवीसमुत्पन्नानां—पृथिव्याम् उत्पन्नानि यानि वस्तूनि तेषां, षडंशभागिनः—षष्ठांशग्रहीतारः। उच्चितकुसुमपल्लवानाम्—त्रोटितानां पुष्पाणां पल्लवानां च।

हे मृगाक्षि! ये आम्रपल्लव तो पहले ही एक बार तुम्हारे हाथों की मृदुल सुन्दरता से पराजित हो चुके है, उन्हें अब पुनः नाखूनों से काटना अत्यन्त अनुचित है ॥ १८ ॥ (चन्द्रकला के हाथ और अंगुलियाँ पल्लवों से भी अधिक कोमल और सुन्दर हैं।)

चन्द्रकला (आनन्दानुभव करती हुई) सखि! ये लो इन्हें। मैं जाती हूँ। (जाने लगती है)

विदूषक—भगवती! राजा, पृथ्वी पर उत्पन्न होने वाली प्रत्येक वस्तु के षष्ठांश का भागी होता है। फिर तुम तोड़े गये पुष्प और पल्लवों का षष्ठांश मेरे प्रिय मित्र (राजा) को दिए बिना ही, क्यों जाना चाहती हो?

सुनन्दना—सत्य भणत्यार्यः। ददस्वेदानीं भर्तुर्हस्ते उच्चितकुसुमपल्लवानां षष्ठांशम्। (सच्चं भणादि अज्जो। तदसुदाणि भट्टीणो हत्थे उचिणिदकुसुमपल्लवाणां सट्टांसं।)

[चन्द्रकला सव्रीडमधोमुखी तिष्ठति]

सुनन्दना—सखि, सर्वतः राज्ञा षडंशोऽपि युज्यते व्यवहार एव एष.। तत् कुतोऽत्रापि ते लज्जा[1]। (हला, सब्वदो राआण सट्टंसोवि[2] जुज्जित्ति[3] व्यावहारोज्जेव एसो। ता कुदो एत्थ बि दे लज्जा।)

चन्द्रकला—यद्रोचते प्रियसख्यै। (य रोअदि पिअसहिए।)

[इति सवैलक्ष्यं हृदयांशुकावगुण्ठितान् कुसुमपल्लवान् ददाति]

राजा—उपनयतु मे सुकृतपादपस्य परिणत फलमिदं प्रेयसि।

अर्थ.—विदूषक, सत्य—यथार्थं, भणति—कथयति। सव्रीडम्—व्रीडया लज्जया सहितं यथा स्यात् तथा। अधोमुखी—नतानना। व्यवहार.—रीतिः नियमो वा। अत्रापि—अस्मिन् विषये अवसरेऽपि वा। रोचते—प्रीतिकर भवति। प्रियसख्यै इत्यत्र रुच्यर्थानां प्रीयमाणः इति सूत्रेण चतुर्थी। सवैलक्ष्यं—लज्जया सहितं, हृदयांशुकावगुण्ठितान्—अञ्चले रक्षितान्। प्रेयसि—परमप्रिये!, सुकृतपादपस्य—पुण्यवृक्षस्य, परिणतं फलं—सुपक्व फलम्, उपनयतु—उपहरतु।

सुनन्दना—उचित ही कर रहे है आर्य। तोड़े गये पुष्प और पल्लवों का षष्ठांश महाराज के हाथ मे दो। [चन्द्रकला लज्जा से मुख नीचे कर लेती है]

सुनन्दना—सखि! सर्वत्र, षष्ठांश पर राजा का अधिकार है और यह एक रीति भी है। तब तुम यहां लज्जा क्यों कर रही हो?

चन्द्रकला—जो प्रिय सखी को अच्छा लगे [कहती हुई वह हृदय पर आवेष्टित वस्त्र (आंचल) मे रखे हुए पुष्प और पल्लवों को दे देती है]

राजा—मेरे सुकर्म वृक्ष के पक्व इस फल को प्रदान करो प्रिये!

---

१ नार्यं मू० पा०। २ सट्टंसोदि मू० पा०। ३ जुदिति।

[इति करौ प्रसारयति]

चन्द्रकला—[कम्पमभिनयति[1] । कुसुमपल्लवा भूमौ पतन्ति ।]

राजा—[ससम्भ्रमम्] सर्वथा अनुपेक्षणीयो महाप्रसादः[2] प्रियतमायाः ।

[इति भूमौ पतितान्[3] कुसुमपल्लवानाददाति]

विदूषकः—भो वयस्य, न खलु एषः पल्लवः । मूर्तिमान् खलु ते प्रियतमाया अनुरागः । तदिदानीं हृदये गृहाणेदम् । (भो वअस्स[4], ण क्खु एसो पल्लवो मूर्तिमन्तो क्खु दे पिअदमाए अणुराअ[5] । तादाणी हिअए गेह्णएद ।)

राजा—सत्यमाह प्रियवयस्यः ।

[इति हृदये विदधाति]

विदूषकः—[पुरोऽवलोक्य] अहो, का गतिः । कथमिहेदानीं

ससम्भ्रमम्—अधीरतापूर्वक झटिति यथा स्यात् तथा । प्रियतमाया.—प्रेयस्या, महाप्रसाद.—महती प्रसन्नता कृपा वा । सर्वथा अनुपेक्ष-णीय.—कदापि उपेक्षा कर्तुं न योग्य । आददाति—गृह्णाति । मूर्तिमान्—शरीर-धारी, अनुराग—प्रेम । विदधाति—करोति ।

[दोनों हाथों को फैलाता है]

चन्द्रकला—(काँपने का बहाना करती है—पुष्प और सुकोमल पल्लव पृथ्वी पर गिर पड़ते हैं)

राजा—(शीघ्रता पूर्वक) प्रियतमा के इस महाप्रसाद की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए । (कहता हुआ भूमि पर गिरे पुष्प और सुकोमल पल्लवों को उठा लेता है)

विदूषक—मित्र ! यह केवल पल्लव नहीं, निश्चित ही तुम्हारी प्रियतमा का अनुराग मूर्तिमान् हो गया है । इसे हृदय से लगा लो ।

राजा—सत्य ही कह रहे हो मित्र ! (ऐसा कहकर हृदय से लगाता है)

विदूषक—(सामने देखकर) अहो ! अब क्या उपाय है ? यहां तो

१ कम्पमभिनीय मू० पा० । २ महाप्रसाद मू० पा० । ३ पतनान् मू० पा० । ४ अस्स मू० पा० । ५ अरा मू० पा० ।

प्रियवयस्यस्य चन्द्रकलया सह रतिकलासु उद्वर्धितासु अप्रसन्ना अन्यस्थानसन्निवेशमसहमानापि[1] आत्मानं गोपयित्वा देवीसहचारिणी रतिकला पुरतो दृश्यते। (अव्वो, का गदि। कध इधदाणी पिअवअस्सस्स[2] चन्दअलाए सह रदिअलासु उव्वाढिदासु अप्पसण्णा[3] अण्णा ण[4] सण्णिवेसं असहमानावि अत्ताणं गोवयितुअ देवी[5] सहआरणी रदिअला पुरो दिसदि।)

सुनन्दना—[विलोक्य] सखि चन्द्रकले, त्वरितम् एह्येहि। इयं खलु देवीसहचारिणी रतिकला इह आगच्छति। तदिह माधवीलतान्तरे गोपिते भवाव। (हला चन्दोअले, तुरिद एहि एहि। ईअं क्खु देवीसहआरिणी[6] रदिअला ईध आगच्छदि। ता ईध माधवीलदन्तरे गोविदे होम्ह.।)

चन्द्रकला—[सोद्वेगम्]त्वरितमेतु[7] प्रियसखि। (तुरिद एदु पिअसहि।)

रतिकलासु—रतिप्रसंगसु, उद्वर्धितासु—वृद्धि गतासु, अप्रसन्ना—खिन्ना, अन्यस्थानसन्निवेशम्—अन्यत्र अवस्थितिम्, असहमाना—अक्षममाना, देवीसहचारिणी—देवीसेविका, रतिकला—एतन्नाम्नी, आत्मानं—स्वं, गोपयित्वा—अन्तरित कृत्वा, पुरतः—अग्रे, दृश्यते—अवलोक्यते। त्वरितं—शीघ्रम्, एह्येहि—अत्रागच्छ। माधवीलतान्तरे—माधवीलताया मध्ये, गोपिते—प्रच्छन्ने।

महारानी की सेविका रतिकला छिपी हुई दिखायी पड़ रही है। यह चन्द्रकला के प्रति बढ़ते हुए राजा के अनुराग को देखकर उससे अप्रसन्न रहती है और उसके लिए यह असह्य है कि राजा, महारानी से दूर और कहीं रहें।

सुनन्दना—(रतिकला को देखकर) सखी चन्द्रकला! शीघ्रता करो, आओ हम दोनों माधवीलता के पीछे छिप जायें। क्योंकि महादेवी की सहचारिणी सखी रतिकला इधर आ रही है।

चन्द्रकला—(उतावली के साथ)प्रियसखी! शीघ्र आओ

१ अन्यथानसन्निवेशमहमपि मू० पा०। २ पिअअस्सस्स मू० पा०।
३ अप्पसण्डा मू० पा०। ४ अण्ट्ठाण मू० पा०। ५ देवी मू० पा०।
६ देवीसहआरणे मू० पा०। ७ त्वरितमतन मू० पा०।

[इत्युभे माधवीलतान्तरं प्रविश्य नाट्यतः]

[ततः प्रविशति रतिकला]

रतिकला—कुत्र पुनः प्रेक्षे महाराजम्। [परिक्रम्यावलोक्य च] कथमिहैव एष। तदुपसर्पामि। [उपसृत्य] जयतु जयतु महाराजः। देवी खलु एतावन्तं कालं महाराजप्रवृत्तिमलभमाना सर्वत्र प्रेषितसमस्तपरिजना पर्युत्सुका वर्तते। तदिदानीं त्वरितं महाराजेन तस्याः सन्निहितेन भवितव्यम्। (कहिं उण पेक्खामि महाराअं। कधं इध ज्जेव एसो। ता उवसप्पामि। जअदु जअदु महाराओ। देवी क्खु एत्तिअं कालं महाराअपउत्तिमलभमाणा सव्वदो पेसिदसमत्थपरिअणा पज्जुस्सुआ वट्टदि। ता दाणिं तुरिदं महाराएण तस्स सण्णिहिदेण होदव्वम्।)

राजा—[दीर्घं निःश्वस्य स्वगतम्] हा दैव! किमत्र करणीयम्!

प्रेक्षे—पश्यामि। परिक्रम्य—विभिन्नदिशा गत्वा। उपसर्पामि—समीपं गच्छामि। देवी, महाराजप्रवृत्तिम्—महाराजस्य समाचारम्, अलभमाना—अप्राप्नुवन्ती, सर्वत्र—सर्वदिक्षु, प्रेषितसमस्तपरिजना—प्रेषिता अन्वेषणार्थं प्रेरिता समस्ता सकला परिजना भृत्यादयो यथाभूता, (भूत्वा) उत्कण्ठिता, पर्युत्सुका—वर्तते। त्वरितं—शीघ्रं महाराजेन, तस्याः—देव्याः, सन्निहितेन—समीपवर्तिना, भवितव्यम्।

[दोनों माधवीलता की आड़ में प्रवेश करती हैं]

(इसके बाद रतिकला का प्रवेश)

रतिकला—महाराज पुनः कहाँ दिखायी पड़ेंगे? (घूमकर देखती हुई) क्या यही हैं? तो उनके निकट चलूँ। (पहुँचकर) महाराज की जय हो, जय हो। देवी इतनी देर से आपको न देखने के कारण अत्यन्त ही व्याकुल हो रही हैं। उन्होंने चारों ओर सेवक सेविकाओं को आपकी खोज में भेज दिया। इसलिए महाराज को शीघ्र ही उनके पास पहुँच जाना चाहिए (आप तुरन्त उनकी ओर चलें)।

राजा—(लम्बी साँस खींचकर—स्वयं) हा दैव! अब क्या करूँ।

विदूषक —[अपवार्य] भो वयस्य, इदानीं खलु देवीसमागमनमेवोचितम् । पश्चात् पुनर्यथा चन्द्रकलासमागमो भवति तथा चिन्तितव्यम् । अन्यथा आयतिशुद्धो न भवत्येप ।

राजा—सत्य सत्यम् अवितथमाह प्रियवयस्य । [प्रकाशम्] रतिकले, मया खलु नवकुसुमितामिमा माधवीलतामाकर्ण्यापरिमितविस्मयाविष्टेन त्वरितमिह प्रविष्ट केलिवनम् ।

रतिकला—देव्या. खलु एतावन्त काल महाराजमनवेक्षमाणायाः क्षणोऽपि युगान्तरमाचरति। (देवीए क्खु एत्तिक काल महाराअमणवेक्खमाणाए खणोवि जुअन्तर आअरदि ।)

राजा—तद्दर्शय पन्थान देवीसमीपगमनाय ।

अपवार्य—जनान्तिकम् । देवीसमागमनम्—देव्या सह समागम । आयतिशुद्ध—परिणामे हितकर । अवितथम्—युक्तम् । आकर्ण्य—श्रुत्वा, अपरिमितविस्मयाविष्टेन—अपरिमितेन अत्यधिकेन विस्मयेन आश्चर्येण आविष्टेन युक्तेन, केलिवन—क्रीडोपवनम् । अनवेक्षमाणाया —अनवलोकयन्त्या, युगान्तरमाचरति—युगावधिकाल इव प्रतिभाति ।

विदूषक—मित्र ? इस समय महादेवी के पास ही जाना उचित है । उसके बाद पुन चन्द्रकला का समागम कैसे हो, सोचा जायेगा । अन्यथा उसका परिणाम भयानक (अहितकर) होगा ।

राजा—(स्वय) सत्य, सत्य है मित्र ! तुमने बिलकुलठीक कहा । (प्रकट) रतिकले ! नवकुसुमित माधवीलता से आकृष्ट हुआ मैं अत्यन्त आश्चर्य में पडकर शीघ्रतापूर्वक इस केलिवन (आनन्दोपवन) म चला आया था ।

रतिकला—महादेवी तो इतनी देर तक महाराज को न देखने के कारण एक-एक क्षण एक एक युग के समान बिता रही हैं ।

राजा—तो देवी के पास पहुँने का मार्ग दिखाओ ।

रतिकला—एतु एतु महाराज.। (एदु एदु महाराओ।)

[राजा परिक्रामति]

विदूषक -[चन्द्रकलालङ्कृता माधवीलता दर्शयन्] भो वयस्य, इय खलु अननुभतपरिमला[1] अनुरोदितीव त्वा गच्छन्त गलन्मकरन्दा माधवीलता। तद्वचनेनापि सम्भाव्यतामेषा। (भो वअस्स, इअ क्खु अणणुहूदपरिमला अणुरोअदिविअ तुम गच्छन्त गलन्तमअरन्दा माहविलदा। तावअणेवि सम्भाविअदु एसा।)

राजा[2]—सखे, भद्रम्। [इति माधवीलतामवलोक्य]

आसादयति न यावन्माधवि भवती[3] मिहैव पुन ।
निर्वृत्तिमेति न चेत चित्ररथक्ष्मापतेस्तावत् ॥१६॥

अननुभूतपरिमला—न अनुभूत परिमल सुवासो यया तादशी, गलन्मकरन्दा—गलन् स्रवन् मकरन्द पुष्परस यस्या तादृशी च, इय माधवीलता, गच्छन्त, त्वाम्, अनुरोदितीव—पश्चादश्रू विमुञ्चतीव। तत्—तस्मात् वचनेनापि—वाचापि, एषा, सम्भाव्यताम्—आद्रियताम्।

माधवि!, यावत, भवतीम् इहैव—अत्रैव, पुन —भूय, न आसादयति—प्राप्नोति, तावत्, चित्ररथक्ष्मापते—राज्ञश्चित्ररथस्य, चेत—चित, निर्वृति—शान्ति, न एति—न गच्छति। अत्र उपगीतिच्छन्द ॥१६॥

रतिकला—इधर से चलें महाराज! इधर से।

(महाराज चलने का नाट्य करते है)

विदूषक—भो मित्र! (चन्द्रकला से शोभित माधवीलता को दिखाकर) माधवीलता जिसका परिमल अनाघ्रात रह गया, आपको जाते हुए देखकर रोती हुई मकरन्द-रस को गिराने लगी। इसलिए कम से कम वचन से तो इसे सान्त्वना दे दें। (माधवीलता से तात्पर्य, चन्द्रकला की ओर निर्देश से है)

राजा—उचित कहा मित्र! (माधवीलता को देखकर) हे माधवी! *जब तक पुन आकर तुम्हारा सहचर नही बनेगा, तब तक राजा चित्ररथ का हृदय शान्ति नही प्राप्त कर सकता* ॥१६॥

---

१ अनुभूतपरामता मू० पा०। २ राग मू० पा०। ३ भवत्री मू० पा०।

[इति रतिकलानिर्दिश्यमानमार्गो विदूषकेण समं निष्क्रान्तः]

चन्द्रकला—[दीर्घं निःश्वस्य स्वगतम्] हा दैव! कथं मयि मन्दभागिन्याम् ईदृशोऽपि[1] व्यर्थवैरानुबन्ध[2] आचरित। (हा देव्व कध मयि मन्दभाइणा[3] एदिसोवि विअथवेराणुबन्धो आअरिदो।)

सुनन्दना—सखि, श्रुत[4] महाराजस्य साभिप्राय वचनम्। तत् कल्य एव ते मनोरथाना सम्पादयिता महाराज.। इह स्थानमिदानी न युज्यते। तत् पुरमेव प्रविशाव। (हला, सुद महाराअस्स साभिप्पाअ वअण। ता कल्लज्जेव दे मणोरथाण सम्पादयिदा महाराओ। इध ट्ठाण दाणि ण जुज्जइ। ता पुरज्जेव प्पविसम्ह।)

[इति निष्क्रान्ता सर्वे]

इति प्रथमोऽङ्कः

रतिकलानिर्दिश्यमानमार्गे—रतिकलया सङ्केत्यमाने पथि। मन्दभागिन्या—भाग्यहीनायाम्, व्यर्थवैरानुबन्ध—निरर्थकशत्रुतारूपदुराग्रह। आचरित—विहित। साभिप्राय—तात्पर्यसहित। कल्य एव—प्रभाते वा श्व एव, ते, मनोरथानाम्—अभिलाषाणा सम्पादयिता—पूरयिता। इह स्थानम्—अत्र अवस्थिति', इदानी, न युज्यते—नोचितम्।

[ऐसा कहकर रतिकला द्वारा निर्देशित मार्ग पर विदूषक के साथ चलता है]

चन्द्रकला—[लम्बी साँस लेकर स्वय] हा दैव! क्यो तुमने मुझ मन्दभागिनी से इस प्रकार अनुरक्त होने का आचरण करवाया।

सुनन्दना—सखि, महाराज का अभिप्राययुक्त वचन सुना। इसलिए कल ही महाराज तुम्हारे मनोरथो को पूर्ण करेंगे। यहाँ हम दोनो का रुकना उचित नही है। चलो अन्त पुर मे ही प्रवेश करें।

[सभी जाते है]

पहला अक समाप्त

१ ईदृशोऽपि मू० पा०। २ व्यर्थवैरानुबन्धमाचरित मू० पा०। ३ मन्दभाइणो मू० पा०। ४ श्रुत मू० पा०।

द्वितीयोऽङ्कः

[तत प्रविशति सुनन्दना विदूषकश्च]

सुनन्दना—आर्य, महन्, मम प्रियसखी चन्द्रकला तव नियोगेन अद्य निशाया सह सुनन्दनया महाराजसमागमम् अनुसरन्ती सन्तर्प-णद्रुमितान्तरा (?) केलिवनदीर्घिकान्ते वर्तते। कथम् एतावन्त काल विलम्बते कृतसङ्केतो भर्ता[1]। (अज्ज मह[2] मम पिअसही चन्द्रअला तह णिओएण अज्जणीसाए[3] सह सुणन्दणाए महाराअसमा-अम अणुसरन्ति सन्दप्पणद्दुमिदान्तरा कलिवणदिहिआ अन्ते[4] वट्टदि। कथ एत्तिअ[5] काल विलम्बेदि किदसकेदो भट्टा।)

विदूषक—भवति, प्रनभरूप गृहीत्वा तत्र गन्तुम् उद्वेगमाणो (?)

नियोगेन—आज्ञया, निशाया—रात्रौ, महाराजसमागम—चित्ररथ-सङ्गमम्, अनुसरन्ती—अनुगच्छती कामयमानेति यावत, केलिवनदीर्घिकान्त-क्रीडोद्यानस्थितवाप्या अन्ते, सन्तर्पणद्रुमितान्तरा—वृक्षाणामावरणे स्थिता वर्तते। कृतसङ्केत—कृत सङ्केतो यन तादृश, भर्ता—स्वामी, एतावन्त कालम्—इयत्समय, कथ, विलम्बते—विलम्ब कुरुते ? भवति—कल्याणि ! प्रसन्नरूप—मुदितरूप, गृहीत्वा—सन्धार्य तत्र—चन्द्रकलाया निकटे, गन्तुम् उद्वेगमाण (?) व्याकुलीभवन

[इसके बाद सुनन्दना और विदूषक का प्रवेश]

सुनन्दना-आर्य ! मेरी प्रियसखी चन्द्रकला तुम्हारी युक्ति के अनुसार आज रात्रि में सुनन्दना के साथ महाराज के समागम की आशा से केलिवन की बावली के समीप सन्तर्पण वृक्षा की ओट में स्थित है। क्या कारण है कि महाराज, सकेत देने पर भी इतने समय तक विलम्ब कर रहे हैं ?

विदूषक—भद्रे ! प्रसन्न मुद्रा में महाराज, उस स्थान पर जाने के लिए

---

१ इयमुक्ति सुनन्दनाया, किन्तु सा कथ कथयेत् चन्द्रकला सुनन्दनया सह इति। अतोऽत्र वाचन त्रुटि सम्भाव्यते। २ अह मू० पा०। ३ अज्जणासाए मू० पा०। ४ अते मू० पा०। ५ एत्तिक मू० पा०।

(प्रियवयस्य उपायै. रुध्यमानया देव्या अग्रत अपि इति भणित । अद्य मया रजनीकरस्याशुना विकसन्त्या. केलिवनदीर्घिकाकुमुदिन्या. एतेन परिणयोत्सव. सम्पादितव्य । तत्र आर्यपुत्रेण सन्निहितेन भवितव्यमिति[1] । (भोदि, पच्छण्णरुव गेहणअ तुत्थ गन्तु उदुवक्क माणो पिअवअस्सो उवाएहिं रुम्भिजुमाणाए देवीए अग्गद[2] एदि भणिदो । अज्ज मए रअणीअरस्यासुणा[3] विअसतीए केलिवणदीहिआ[4] कुमुदिणीए एदिणा परिणआउसव्वो सपादिदव्वो । तत्थ अज्जउत्तेण सणीहिदेण होदव्यत्ति ।)

सुनन्दना—किमत्र प्रतिपन्न भर्त्रा ? (अव्वो, किं एत्थ पडिवण्ण[5] भट्टणा[6] ।)

विदूषक.— भवति, तत्र मया अतिशयितसकलमन्त्रिबुद्धिविभवेन[7]

प्रियवयस्य —महाराज , उपायै.—प्रयत्नै , रुध्यमानया—साक गन्तु निवार्य माणया, देव्या—महाराज्ञ्या, अग्रत —समक्षे, इति भणित —एव कथित (यत्), अद्य, मया, रजनीकरस्य-चन्द्रस्य, अशुना—किरणेन, विकसन्त्या —सस्फुटन्त्या , केलिवनदीर्घिकाकुमुदिन्या —क्रीडोद्यानवापीकुमुदिन्या , परिणयोत्सव –विवाहोत्सव , सम्पादितव्य –करणीय । तत्र, आर्यपुत्रेण-भर्त्रा सन्निहितेन-समीपवर्तिना, भवितव्यम् ।

उतावले हो रहे थे, उस समय (कपटपूर्ण) उपायो के द्वारा (महाराज के साथ जाने से) रोकी जाती हुई महारानी ने प्रिय मित्र से कहा—'मैं आज केलिवन की बावली मे विकसित कुमुदिनी का चन्द्रकिरण के साथ परिणयोत्सव सम्पन्न करूँगी । वहाँ आर्यपुत्र की उपस्थिति आवश्यक है ।

सुनन्दना—तब ऐसी परिस्थिति म आपने क्या किया ?

विदूषक—भद्रे ! तब भी समस्त मन्त्रियो के बुद्धि ऐश्वर्य को पराजित कर

१ अय मू० पा० नास्ति । २ व मू० पा० । ३ रताणी रताणीअरस्या मू० पा० । ४ दिहोदा मू० पा० । ५ पडिवञ्ण मू० पा० । ६ भट्टणी मू० । ७ वुद्धिभवेण मू० पा० ।

उपाय चिन्तित[1] एव । तदानीं त्वं देव्याः समीपमेव[2] वर्तमाना चन्द्रकलासमीपगतः[3] प्रियवयस्यमेषा यदि अनुसर्तुं गच्छति तदा त्वरितं गत्वा निवेदयस्व एनम् । अहमपि इतो गच्छामि समीहितसम्पादनाय । (भोदि, तत्थ मए अदिसइदसकलमन्तिवुद्धिविभवेण उवाओ चिन्तिदोज्जेव । तादाणिं तुम देवीए समीवे ज्जेव वट्टन्ती चन्दअलासमिवगद पिअवअस्सम् एसा यदि अणुसरिदुं गच्छदि, तदा तुरिअं गदुअ णिवेदेसु[4] एणं । अहं पि इदो गच्छामि समीहिदसम्पादणाय ।)

[इति निष्क्रान्तौ]

प्रवेशक

अतिशयितसकलमन्त्रिबुद्धिविभवेन—अतिशयितः अतिक्रान्तः सकलानां मन्त्रिणां सचिवानां बुद्धिविभवः प्रज्ञासम्पत् येन तादृशेन, मया, उपायः, चिन्तित एव—विचारित एव । तदानीं—तस्मिन् समये, एषा—देवी, अनुसर्तुम्—अनुगन्तुम्, गच्छति, त्वरितं—शीघ्रं, गत्वा, निवेदयस्व—सूचय, एनम्—प्रियवयस्यम् । समीहितसम्पादनाय—अभीष्टकार्यकरणाय । प्रवेशकः—प्रवेशयतीति प्रवेशकः । पञ्चसु अर्थोपक्षेपकेषु अन्यतमोऽयम् । यदुक्तं दर्पणे—'प्रवेशकोऽनुदात्तोक्त्या नीचपात्रैः प्रयोजितः । अङ्कद्वयान्तर्विज्ञेयः शेषं विष्कम्भके यथा ॥' अस्य प्रवेशकस्य प्रथमाङ्केऽन्त्ये च प्रतिषेधः । यथा दशरूपटीकाकृतः 'नासूचितस्य पात्रस्य प्रवेशः क्वचिदिष्यते । प्रवेशं सूचयेत्तस्मादमुख्याङ्के प्रवेशकात् ॥'

देने वाला मैंने उपाय (युक्ति) सोच ही लिया । सो तुम अब महारानी के पास ही उपस्थित रहो और देखो, कि चन्द्रकला के पास गये हुए (जाते हुए) मेरे प्रिय मित्र का वह पीछा तो नहीं करतीं । यदि महारानी उनका अनुगमन करें तो तुम तुरन्त धीरे से जाकर उन (महाराज) को बताकर सचेत कर देना । मैं भी अब यहाँ से अभीष्ट सम्पादन के लिए चल रहा हूँ ।

[दोनों चले जाते हैं]

प्रवेशक समाप्त

---

१ उपायश्चिन्त एव । २ समीपे मू० पा० । ३ चन्द्रकलादेव्याः समीपग० मू० पा० । ४ णिवेदेसु मू० पा० ।

[ततः प्रविशति परितः परिचारिकाभिश्चामरैरुपवीज्यमानो[1] राजा देवी च]

राजा—प्रिये, पश्य, पश्य—

विरहिकुलकृतान्तः क्षुण्णकर्पूरकान्तः
कृतयुवधृतिभङ्गः सम्भृतानङ्गरङ्गः[2]।
गगनजलधिहंसः स्थाणुचूडावतंसः
क्षयितकुमुदतन्द्रः शोभते शुभ्रचन्द्रः ॥१॥

परितः—चतुर्दिक्षु, परिचारिकाभिः—सेविकाभिः, चामरैः—बालव्यजनैः, उपवीज्यमानः।

विरहिकुलकृतान्तः—वियोगिसमूहानां कृते यमराट् (इव), क्षुण्णकर्पूरकान्तः—पिष्टकर्पूर इव मनोज्ञः, कृतयुवधृतिभङ्गः—कृतः विहितः यूनां धृतिभङ्गः धैर्यनाशो येन तादृशः, सम्भृतानङ्गरङ्गः—सम्भृतः पोषितः अनङ्गरङ्गः कामदेवमोदः येन तादृशः, गगनजलधिहंसः—आकाशरूपसमुद्रस्य हंसः (इव), स्थाणुचूडावतंसः—शङ्करभालालङ्कारः, क्षयितकुमुदतन्द्रः—क्षयिता विनाशिता कुमुदतन्द्रा कुमुदपुष्पस्य अस्फुटावस्था येन तादृशः, शुभ्रचन्द्रः—निर्मलचन्द्रमा, शोभते-राजते। अत्र मालिनीछन्दः ॥१॥

[इसके बाद चमर डुलाती हुई परिचारिकाओं से घिरे हुए राजा और साथ में महारानी प्रवेश करती हैं]

राजा—प्रिये ! देखो, देखो—

विरही जनों के लिए यमराज के समान, पीसे हुए कर्पूर के सदृश कान्ति वाला, युवकों के धैर्य का भंग करने वाला, कामदेव के हर्ष को बढ़ाने वाला आकाश रूपी समुद्र का हंस, शंकर के ललाट का आभूषण और कुमुदपुष्प को खिलाने वाला निर्मल चन्द्रमा शोभित हो रहा है ॥१॥

१ उपवीय्यमानो मू० पा०। २ सम्भृतानङ्गरङ्ग मू० पा०।

देवी—तदिदानीं त्वरतामार्यपुत्र तदस्यालोकमात्रेणापि विहसन्त्या महादीर्घिकाकुमुदिन्या एतेन परिणयोत्सवं सम्पादयितुम्। (ता दाणिं तुवरदु अज्जउत्तो तदस्स आलोअमेत्तकेणावि विहसन्तिए महदिहिआ कुमुदिणीए[1] एदिणा परिणउसव्व सम्पादितुम्[2]।)

राजा—प्रिये, अद्यापि त्वयापि न मुक्तो[3] मुग्धभावः। कथं पुनरतिदवीयसः क्षणदाकरस्य कुमुद्वत्या करग्रहनिर्वर्तनमित्यपि यस्या मनसि विवेको न स्फुरति।

देवी—आर्यपुत्र, किं मामुपहससि ? एतेन किल अमृतमयूखेन दीर्घिकाकुमुदिन्याः किसलयकरे[4] स्वयमेव करोऽर्पितो[5] वर्तते।

अस्य—चन्द्रस्य, आलोकमात्रेणापि—दर्शनमात्रेणापि, विहसन्त्या—विकसन्त्या, महादीर्घिकाकुमुदिन्या—महावापीस्थकुमुदिन्या, एतेन—चन्द्रेण, सह, परिणयोत्सव—विवाहोत्सवं, सम्पादयितु—कारयितुम्, आर्यपुत्र, त्वरताम्—शीघ्रता करोतु। मुग्धभाव—मुग्धता शिशुत्वमिति यावत, न मुक्त—न त्यक्त। अतिदवीयस—अतिदूरवर्तिन, क्षणदाकरस्य—चन्द्रस्य, कुमुद्वत्या, करग्रहनिर्वर्तनम्—पाणिग्रहणोत्सव। अमृतमयूखेन—अमृतकिरणेन—चन्द्रेण, दीर्घिकाकुमुदिन्या, किसलयकरे—नवपल्लवरूपहस्ते, स्वयमेव, कर—पाणि, अर्पित—दत्त।

देवी—आर्यपुत्र ! फिर शीघ्रता करें और चलकर, केवल चन्द्रमा के दर्शनमात्र से विहँसती (खिली) हुई, बड़ी बावली की कुमुदिनी का इसके साथ विवाह करा दें।

राजा—प्रिये ! अभि तुम्हारी मुग्धता (भोलापन) दूर नहीं हुई है। तुम्हारे हृदय में यह विवेक नहीं आ पा रहा है कि अतिदूरवर्ती चन्द्रमा के साथ कुमुदिनी का विवाह कैसे हो सकता है।

देवी—आर्यपुत्र ! क्या उपहास कर रहे हैं ? देखिए, इसने तो अपको अमृतमयी किरणों के द्वारा, बावली की कुमुदिनी के कोमल करों में जैसे अपना हाथ ही अर्पित कर दिया है। मैं तो इस समय उनके परिणय के

१ कुदिणीए मू० पा०। २ सम्पादिदं मू० पा०। ३ मुक्तो मू० पा०। ४ किशलयकरे मू० पा०। ५ करोऽर्पितो मू० पा०।

तदिदानीम्[1] एतयो. परिणयार्थं तवसन्निधानमात्र[2] मया काङ्क्ष्यते[3]। (अज्जउत्त, किं म उवहससि ? एदिणा किल अमिअमउहेण[4] दीहिआकुमुदिणीए किसलअकरे सअज्जेव करेअप्पिदो वट्टदि। तादाणि एदाण परिणअत्थ तुह सणिधाणमेत्त मए कखीअदि।)

राजा—तथाप्यलमस्येदानी तव वदनाम्भोजविस्पर्धिनो दोषाकरस्य परिणयोत्सवोपादानेन।

देवी-आर्यपुत्र! जानामि यथा किल असत्य[5] एव ते सकलोऽपि मय्यनुरागबन्ध। यस्य मम एतावन्तमपि मनोरथ पूरयितु[6] कदापि चित्तवृत्तिर्न[7] प्रसरति। (अज्जउत्त, जाणीमि जधा किर असच्चोज्जेव दे[8] सअलोवि मयि अणुराअबन्धो जस्स मम एत्तिक वि मणोरध पुराइदु कदावि चित्तवित्ति ण परिसरदि।)

तत-तस्मात् इदानीम्—अधुना, एतयो—चन्द्रकुमुदिन्यो परिणयार्थ—विवाहार्थ, तव-भवत, सन्निधानमात्र-सामीप्यमात्र, मया,काङ्क्ष्यते—वाञ्छ्यते। वदनाम्भोजविस्पर्धिन —मुखकमलस्य स्पर्धितु, दोषाकरस्य—चन्द्रस्य, परिणयोत्सवोपादानेन—विवाहोत्सवकरणेन। सकलोऽपि-समस्तोऽपि, अनुरागबन्ध -प्रेमबन्ध, मनोरथम्—अभिलाष, पूरयितु-सफलयितु, चित्तवृत्ति न प्रसरति—मन प्रवृत्तिर्न भवतीत्यर्थ।

अवसर पर आपकी उपस्थिति मात्र चाहती हूँ।

राजा—तथापि, प्रिये! तुम्हारे मुखकमल से स्पर्धा करने वाले चन्द्रमा का विवाहोत्सव सम्पन्न करना व्यर्थ ही है।

देवी—आर्यपुत्र! जानती हूँ मेरे प्रति आपका यह अनुराग कोरा असत्य है, जो आप मेरी (इस) साधारण सी इच्छा को भी पूरा नहीं करना चाहते।

६ तदिनी मू० पा०। ७ सन्निधाय मात्र मू० पा०। ८ काक्षते मू० पा०। ९ अमित मचिहेण मू० पा०। १ असत्यतम् मू० पा०। २ पूरयित मू० पा०। ३ न इति मू० पा० नास्ति। ४ न्दे मू० पा०।

राजा— [विचिन्त्य स्वगतम्] एकतः खलु,

व्योममण्डलमिदं समाकुले तां चमूरुचललोचनां विना ।
शीतदीधितिमयूखकैतवान्मुञ्चतीव मयि मुर्मुरं मुहुः ॥२॥

अन्यच्च तत्र,

अत्र केलिविपिने निवसन्ती दीर्घिकाकुमुदिनीमभियान्ती[1] ।
तामियं मयि निवेशितभावां वीक्षते न पुनरित्यपि भीतिः[2] ॥३॥

इदं-दृश्यमानं, व्योममण्डलम्—आकाशमण्डलं, तां, चमूरुचललोचनां—मृगस्येव चञ्चलनेत्रां (चन्द्रकलां), विना—अन्तरा, समाकुले—विह्वले मयि, शीतदीधितिमयूखकैतवात्—चन्द्रकिरणच्छद्मनात्, मुर्मुरं—तुषाग्निं, मुहुः—असकृत्, मुञ्चतीव—त्यजतीव । अत्र रथोद्धताच्छन्दः ॥२॥

दीर्घिकाकुमुदिनीम्—वापीस्थकुमुदिनीम्, अभियान्ती—उपगच्छन्ती, इयं—महाराज्ञी, अत्र—अस्मिन्, केलिविपिने—क्रीडाकानने, निवसन्ती—वासं कुर्वती, मयि, निवेशितभावां—केन्द्रितचित्तवृत्तिं, तां—चन्द्रकलां, वीक्षते न—पश्येत् न, पुनः, इत्यपि, भीतिः—भयम् । अत्र स्वागताच्छन्दः ॥३॥

राजा—[सोचकर मन में] एक ओर,

यह आकाशमंडल हरिण की-सी चंचल आँखों वाली उस तरुणी के बिना व्याकुल मुझ पर चन्द्रमा की शीतल किरणों के बहाने बार-बार मानो भूसी की आग बरसा रहा है ॥२॥

दूसरी ओर, हृदय को यह आशंका और भय लगा हुआ है कि बावली में खिली कुमुदिनी की ओर जाने वाली यह महारानी यहाँ केलिवन में मेरे ऊपर अपने चित्त को केन्द्रित किये हुए स्थित उस (चन्द्रकला) को कहीं देख न ले ॥३॥

---

१ अभियान्ति मू० पा० । २ भितिः मू० पा० ।

तत्कि पुनरत्र करणीयम् ? आ, ग्रहो नाम दुरपनोद प्रायश[1] स्त्रीणाम्। [विचिन्त्य] तदलमिदानीमनातिनिर्बन्धेन। तावदेव तावत्। [प्रकाशम्] प्रिये, एह्येहि। अतएव सम्पादयामि दीर्घिका-कुमुदिनी[2] परिणयोत्सवम्।

[इत्युभौ सपरिवारौ केलिवनप्रवेश पथ्ये नाटयत]

[नेपथ्ये कलकल। सर्वे शृण्वन्ति। पुनर्नेपथ्ये]—

रे रे केलिवनरक्षका। पलायध्व पलायध्वम्। इदानी खलु—

लाङ्गूलेनाभिहत्य क्षितितलमसकृद्दारयन्[3] ग्रपदभ्या —,

स्त्रीणा, ग्रह —दुराग्रह हठ इति यावत, प्रायश —बाहुल्येन दुरपोद — दु खेन निराकर्तु योग्य। अतिनिर्बन्धेन—दुराग्रहेण, अल—व्यर्थम्। दीर्घिकाकुमुदिनीपरिणयोत्सवम्—वापीस्यकुमुदिनीविवाहमङ्गलम्। कल कल —कोलाहल। केलिवनरक्षका —उद्यानपाला।

कोपाविष्ट —क्रुद्ध, (अतएव) अरुणोच्छूनचक्षु —अरुणे रक्तवर्णे उच्छूने स्फीते च चक्षुषी नेत्रे यस्य तादृश, एष, तरक्षु —व्याघ्रविशेष, लाङ्गूलेन—पुच्छेन, क्षितितल—भूमिम, अभिहत्य—ताडयित्वा, अग्रपद्भ्या–चरणाभ्याम, असकृत–वार वार दारयन–क्षितितलमेव

तो अब क्या करना चाहिए? आह! स्त्री हृदय की धारणा को बदलना कठिन है। [सोचकर] तो अब इस विषय मे हठ करना उचित नही। और अब वही करना चाहिए जो महारानी चाहें [प्रकट] प्रिये! आओ,आओ। चलकर वावली की कुमुदिनी का परिणयोत्सव सम्पन्न करें।

[ऐसा कहकर दोनो केलिवन मे प्रवेश करते हैं]

[नेपथ्य मे कोलाहल। सुनें सब। पुन नेपथ्य मे]

अरे केलिवन के पहरेदारो! भागो भागो। इस समय—

अपनी पूंछ को वार वार पटककर, अगले पैरो से धरती को खोदता हुआ, कुछ क्षणों के लिए अपनी देह को सिकोडकर छोटा होकर बडी ही तेजी

१ दुरापनोद प्रायस मू॰ पा॰। २ दीर्घिकामुदिनी मू॰ पा॰। ३ धारयन् इति पाठभेद।

मात्मन्येवावलीय[1] द्रुतमथ गगन प्रोत्पतन विक्रमेण ।
स्फूर्जत्फुत्कारघोष[2] प्रतिदिशमखिलान् भाययन्नेष[3] जन्तून्
कोपाविष्ट प्रविष्ट प्रतिवनम[4] रुणोच्छून[5] चक्षुस्तरक्षु ॥४

सर्वा —[श्रुत्वा ससयम्] आर्ये भट्टिनि[6] इदमेव केलिव प्रविष्टो दुष्टव्याघ्र । तदित पलायामहे । (अज्जो भट्टिणि, इ ज्जेव केलिवण पविट्ठो दु वग्घो । तादो पलाइअम्ह ।)

देवी–मात ! कथ व्याघ्र ! (अन्वो, कथ वग्घो !)

[इति राजानमालिङ्गति]

विलिखन्, आत्मन्येव अवलीय—सङ्कुचितदेहो भूत्वेत्यर्थ अथ अनन्त विक्रमेण—शक्त्या, द्रुत—शीघ्र, गगनम्—आकाशम्, प्रोत्पतन्–उद्गच्छन, स्फर्जन्—वर्धमान, फुत्कारघोष —फुत्कारशब्दो यस्य तादृश प्रतिदिश–सर्वासु दिक्षु, अखिलान्—समस्तान्, जन्तून—छागकुक्कुरादि प्राणिगणान्, भाययन्—भयभीतान् कुर्वन्, प्रतिवन—वने वने, प्रविष्ट अत्र स्रग्धराच्छन्द, स्वभावोक्तिरलङ्कार ॥४॥

से आकाश की ओर उछलकर गर्जन के साथ घूं घूं का घोष करत हुआ, चारों ओर वन के समस्त जीव-जन्तुओं को डराता हुआ बड़ बड़ी लाल वर्ण की सी आँखें नचाता जैसे क्रोध म भरा हो, यह लकड़बग (बघेरा) वन के एक छोर से दूसरे छोर की ओर बढ़ता हुआ घुस चला आ रहा है ॥४॥

सभी—[भय के साथ सुनकर] आर्य स्वामिनी ! यह दुष्ट बाघ इस केलिवन मे घुस आया । चलो, यहाँ से भाग चलें ।

देवी—माँ ! कैसा बाघ ?

[यह कहकर राजा से लिपट जाती है]

---

१ वलिय मू० पा० । २ स्फुरत्फुत्कारघोर मू० पा० । ३ द्रावयन्नेष इति पाठान्तरम् । ४ प्रतिवल इति पाठभेद । ५ लूनचक्षुस्तरक्ष् मू० पा० ६ मात भगिनी मू० पा० ।

राजा—प्रिये, न भेतव्य न भेतव्यम् । अमुना खलूपकृतो-ऽहम्[1] याचितभवदीयसरम्भनिर्भरपरिरम्भनिर्भिन्नपुलकाङ्कुरस्तरक्षुणा दुष्टेन ।

[प्रविश्यापटीक्षेपेण सम्भ्रान्त शवर. । राजान प्रति दूरत. सप्रणामम्]

शवर.—जयतु जयतु भट्टारक.[2] । एष खलु कुतोऽपि केलिवन प्रविष्ट इतस्तत कुरङ्गयूथविद्रावकः दृष्टिदिगन्तभयङ्कर दुष्टतरक्षुवटुक । तदिदानी भर्त्रानुज्ञात[3] मारयितुमिच्छन्ति केलिवनरक्षका वनचरा । (जेदु जेदु[4] भट्टालके । एसो क्खु कुदोवि केलिवण पविट्ठो इदो तदो कुलङ्गजुघविज्जावत्तके दिट्ठिदिगन्तभअकुले दुट्ठतलक्खुवडुको[5] । तादाणि भट्टालकेण आणत्ता त मालइदु इछन्ति केलिवणरक्खका वणचला ।)

अयाचितभवदीयसरम्भनिर्भरपरिरम्भनिर्भिंतपुलकाङ्कुर —अयाचितेन स्वत प्राप्तेन भवदीयेन त्वदीयेन सरम्भनिर्भरपरिरम्भेण गाढालिङ्गनेन निर्भिन्न उद्गत पुलकाङ्कुर रोमाञ्च. यस्य तादृश . अहम्, अमुना—तरक्षुणा, उपकृत । सम्भ्रान्त —व्याकुल । भट्टारक —देव । कुरङ्गयूथविद्रावक — मृगवृन्दधर्षक ।

राजा—प्रिये ! न डरो, न डरो । इस बाघ ने तो मेरा बड़ा उपकार किया । क्योंकि इसी के कारण तुम्हारे गाढालिंगन के अयाचित आनन्द की प्राप्ति हो गई ।

[परदे को हटाकर हड़बड़ाता हुआ शवर प्रवेश करता है । दूर से ही राजा को प्रणाम करते]

शवर—महाराज की जय हो ! जय हो !! दश दिशाओं में भय व्याप्त करने वाले इस दुष्ट बाघ ने कहीं से इस केलिवन में घुसकर हरिण-समूहों को तितर बितर कर डाला है । इसलिए केलिवन के रक्षकगण, इसे मारने के लिए आपकी आज्ञा चाहते हैं

---

१ खलु प्रकृतोऽहं मू० पा० । २ भट्टारक. मू० पा० । ३ भर्त्रा अनुज्ञात मू० पा० । ४ जेदु २ मू० पा० । ५ तरक्षुबटुके मू० पा० ।

राजा—[श्रुत्वा सकौतुकम्] वनपाल ! केलिवनमृगवृन्दविद्रावकोऽपि[1] तिष्ठतु क्षणमयं तरक्षुः। वयमिदानीं खलु तदालोकनकुतूहलिनो वर्तामहे।

देवी—[सभयम्] आर्यपुत्र ! एतैर्मारयित्वा इत आनीतोऽपि प्रेक्षितव्य[2] एव। अलं ते तत्र गमनपरिश्रमेण। (अज्जउत्त ! एदेहिं मारिअ इध आणिदोवि पेक्खिदव्वो एसो। अलं दे तथ्थ गमणपलिस्समेण।)

राजा—प्रिये, न भेतव्यं, न भेतव्यम्।

आत्मबाहुबलनिर्जिताखिलक्षोणिमण्डलसमिद्धतेजसा।
ईदृशेषु शशिवंशजन्मनामस्ति कैव गणना तरक्षुषु ॥५॥

आत्मबाहुबलनिर्जिताखिलक्षोणिमण्डलसमिद्धतेजसा—स्वभुजप्रतापार्जितनिखिलभूमण्डलेन समिद्धं प्रदीप्तं तेजो येषां तथाभूतानां, शशिवंशजन्मना—चन्द्रवंशीनायाम्, (कृते) ईदृशेषु, तरक्षुषु—व्याघ्रेषु, गणना, एव, का ? न कापीत्यर्थः। अत्र रथोद्धताच्छन्दः ॥५॥

राजा—[सुनकर कौतुकपूर्वक] वनरक्षक ! यद्यपि इसने केलिवन के मृगयूथों को भय के कारण तितर-बितर कर दिया है, तथापि कुछ क्षणों के लिए अभी इसे मत मारो। हम इसे देखने का कुतूहल हो रहा है।

देवी—[भयभीत होकर] आर्य ! इस लकड़बग्घे को उन लोगों के द्वारा मारकर लाये जाने पर भी हम लोग देख सकते हैं। आपका वहाँ जाने की कोई आवश्यकता नहीं है।

राजा—प्रिये ! डरो नहीं, डरो नहीं—

अपने बाहुबल से समस्त भूमण्डल को जीतकर प्रज्वलित प्रताप वाले हम चन्द्रवंशी वीरों के सामने इस लकड़बग्घे की कौन-सी गिनती है ? ॥५॥

---

१ विद्रावणोऽपि मू० पा०। २ प्रेक्षितव्य एव मू० पा०।

त्वमिदानी सपरिवाराऽन्तः पुरमेव प्रविश[1]। क्षणेनैव निहततरक्षुक्षयमानयिष्ये[2] भवतीम्।

[इति गन्तुमुपक्रमते]

देवी—[परिष्वज्य। सबाष्पम्] आर्यपुत्र! यदि त्वया अवश्य गन्तव्य, तदा मयापि गन्तव्यम्। (अज्जउत्त! जदि तए अवस्स गन्तव्व तदा मएवि गन्तव्वम्।)

राजा—कातर्य हि नाम स्वाभाविको धर्मः स्त्रीणाम्। तत्कथ भवत्या तादृशस्य तरक्षोरभिमुख[3] क्षणमपि वर्तितव्यम्! किंच[4] त्वयि सन्निहिताया त्वद्वदनैकपरायणस्य ममापि प्रत्यूहो भवति तरक्षुमारणस्य। तदलमिदानीमत्र महीयसाभिनिवेशेन। सपरिवारान्त.पुरमेव प्रविश।

सपरिवारा—परिजनसहिता। क्षणेनैव—किञ्चित्क्षणानन्तरमेव झटित्येवेत्यर्थः, निहततरक्षक्षयम्—मारितव्याघ्रावशेषम्। परिष्वज्य—आलिङ्ग्य। कातर्य—भीरुत्वं। अभिमुख—सम्मुखम्। सन्निहिताया—समीपस्थिताया, त्वद्वदनैकपरायणस्य—त्वन्मुखावलोकनासक्तस्य, प्रत्यूह.—विघ्न। महीयसा—अत्यधिकेन, अभिनिवेशेन—आग्रहेण।

सम्प्रति तुम सपरिवार अन्त' पुर मे जाओ। क्षण मात्र मे मैं इलकडबग्घे का वध करके उसके अवशेष लेकर तुम्हारे पास उपस्थित कर देता हूँ।

[ऐसा कहकर वह जाने लगता है]

देवी—[आँखो मे आँसू भरकर] यदि आप जाएँगे ही तो मै भी आपके साथ चलूँगी।

राजा—भीरुता स्त्रियो का स्वाभाविक धर्म है। तुम कैसे क्षणमात्र भी उस लकडबग्घे के सामने रुक सकोगी? (नही रुक सकती हो)। इतना ही नही, यदि तुम उसके पास रहोगी तो उसको मारने मे भी मुझे बाधा पडेगी। क्योंकि मेरा ध्यान तुम्हारे मुख पर ही लगा रहेगा। इसलिए अब इस ओर अधिक आग्रह उचित नही है। अपनी परिचारिकाओ के साथ तुम अन्तः पुर को ही प्रस्थान करो।

१ प्रविश्य मू० पा०। २ क्षय आनयिष्ये मू० पा०। ३......मुख मू० पा०। ४ किं च मू० पा०।

देवी—[सबाष्पम्] प्रतिहतममङ्गलं[1] भवतु आर्यपुत्रस्य। (पडिहदममङ्गलं भोदु अज्जउत्तस्स।)

[इति राजानमालोकयन्ती सपरिवारा निष्क्रान्ता]

राजा—वनपाल ! तद्दर्शय कुत्रास्ते तरक्षुः।

शबरः—एतु एतु स्वामी[2]। (एदु, एदु[3] सामिके।)

[राजा परिक्रामति]

शबरः—पश्यतु पश्यतु स्वामी। एष सम्मारित[4] कुरङ्गरुधिरान्त-जालकरालितनखरो दृष्टिदिगन्तभयङ्करस्तरक्षुवट्टुकः। (पेक्खदु, पेक्खदु[5] सामिके। एस समालिदकुलङ्गलुधिलअन्तजालकलालिदण-हलो[6] दिठिदिगन्तभअकलो तलच्छु वडुको।)

अमङ्गलम्—अकल्याणम्, प्रतिहतं—विनष्टम्। सम्मारितकुरङ्गरुधिरान्तजाल-करालितनखरः—सम्मारिता व्यापादिता ये कुरङ्गा मृगा तेषां रुधिरेण शोणितेन अन्तजालेन अन्त्रेण च करालिता भयानका नखराः नखा यस्य तादृशः, दृष्टिदिगन्तभयङ्करः—दृष्ट्या दिगन्तेषु दिशासु अपि भयङ्करः भयोत्पादकः। तरक्षुवट्टुः—दुष्टतरक्षुरित्यर्थः।

देवी—[आँखों में आँसू भरकर] आर्यपुत्र के लिए अमंगल नष्ट हो जायँ।

[ऐसा कहकर राजा को देखती हुई परिचारिकाओं के साथ अन्तःपुर की ओर प्रस्थान करती है]

राजा—वनपाल ! तो दिखाओ, कहाँ है लकड़बग्घा ?

शबर—इधर से आएँ स्वामी इधर से।

[राजा चलता है]

शबर—देखिए, देखिए स्वामी। यह है दुष्ट लकड़बग्घा। भली भाँति मारे हुए हरिणों के रक्त से नखों को लोहित किये हुए, अपनी भयावह दृष्टि से दिशाओं को भी भयभीत कर रहा है।

---

[1] प्रतिहतममङ्गलम् मू० पा०। २ स्वामिके मू० पा०। ३ एदु २ मू० पा०। ४ समारित मू० पा०। ५ पेक्खदु २ मू० पा०। ६ समालिदकुलङ्ग-लुधिलअन्तजालकलालिदणहलो मू० पा०।

[इत्यङ्गुल्या निर्दिशति]-

राजा—[विलोक्य] आः, कथं ममापि नाम केलिवने—

उदस्यैकं पादं विटपिषु मुहुः स्कन्धकषणात्[1]
कृतव्योमाभङ्गः शकुनिकुलकोलाहलभरैः।
परिभ्राम्यन्नुच्चैः प्रकटरसनो[2] व्यात्तवदन-
स्तरक्षुः क्रुद्धोऽयं क्षिपति मृगयूथानि परितः ॥६॥

तदिदानीं, वनपाल! त्वरितमानय सशरं शरासनम्।

शबर—यदाज्ञापयति भट्टारकः[3]। (जं आणवेदि भट्टालके।)

एकं, पादम्—चरणम्, उदस्य—उत्थाप्य, विटपिषु—वृक्षेषु, मुहुः—वार वार, स्कन्धकषणात्—घर्षणात्, शकुनिकुलकोलाहलभरैः—पक्षिसमूहकलकलैः, कृतव्योमाभङ्गः—कृतः विहितः व्योम्नः आकाशस्य आभङ्गः ध्वंसः येन तादृशः पक्षिनिनादैराकाशमापूरयन्नित्यर्थः, परिभ्राम्यन्—इतस्ततो गच्छन्, उच्चैः—अतीव, प्रकटरसनः—प्रदर्शितजिह्वः, व्यात्तवदनः—व्यात्तं विस्फारितं वदनं मुखं येन तादृशः, अयं—दृश्यमानः, क्रुद्धः—कुपितः, तरक्षुः—व्याघ्रः, परितः—समन्तात्, मृगयूथानि—हरिणसमूहान्, क्षिपति—विद्रावयति। अत्र शिखरिणीच्छन्दः ॥६॥

त्वरितं—शीघ्रं, सशरं—बाणसहितं, शरासनं—धनुः। भट्टारकः—देव।

[अंगुलियों से दिखाता है]

राजा—[देखकर] आह! यह क्या? मेरे (जैसे वीर के) भी क्रीडावन में—

यह क्रुद्ध लकड़बग्घा एक पैर को उठाये हुए, बार-बार अपने कंधों को वृक्षों में रगड़ रहा है, जिससे उन पर बैठे हुए भयातुर पक्षियों के कोलाहल से आकाश भर रहा है। मुँह फैलाकर जीभ लपलपाता हुआ उछल-कर चारों ओर चक्कर लगाता हुआ, सब ओर हरिण-समूहों को आक्रान्त कर रहा है ॥६॥

इसलिए, वनपाल! अब शीघ्र ही धनुष और बाण लाओ।

शबर—स्वामी की जैसी आज्ञा।

---

१ स्कन्धघर्षणात् मू० पा०। २ प्रकटरसनः मू० पा०। ३ भट्टारकः मू० पा०।

[इति निष्क्रम्य राजः सशरं शरासनमुपनयति]

[राजा नाट्येन आदत्ते]

शवरः—अरे दुष्टतरक्षो[1] ! क्व[2] इदानीम् ? एह्येहि । एष खलु गृहीतशरासनको[3] भर्ता । (अले दुट्ठ तलक्खु ! आदाणी ईहिहि । एसो क्खु गिहिदसलासणको[4] भट्टालको[5] ।)

[तरक्षुः सधुत्कारमभिविक्रम्य सहितवाणशरासनं राजानमवलोक्य पलायते । राजा शवरानुगतो धावति]

तरक्षुः—[सर्वतः केलिवनं विजनमालोक्य] एषोऽस्मि रसालकः संवृत्तः । (एस्सोम्हि रसालओ संवुत्तो ।)

[इति व्याघ्रभूमिकां परित्यज्य विदूषकरूपस्तिष्ठति]

उपनयति—समीपं प्रापयति । आदत्ते—गृह्णाति । गृहीतशरासनकः—गृहीतम् आदत्तं शरासनकं धनुः येन तथाभूतः । सधुत्कारं—सगर्जनम्, अभिविक्रम्य—विक्रम्य, सहितवाणशरासनं—सधानीकृतवाणेन युक्तं शरासनं यस्य तादृशं, राजानम् । शवरानुगतः—शवरेण अनुसृतः । विजनम्—एकान्तम् । संवृत्तः—जातः । व्याघ्रभूमिका—तरक्षुकृत्रिमरूपम् ।

[यह कहकर जाता है और धनुष बाण लाकर राजा को देता है]

[राजा अभिनय के साथ ग्रहण करता है]

शवर—अरे दुष्ट लकड़बग्घा ! अब कहां हो ? इधर सामने आओ । हमारे महाराज अब धनुष-बाण हाथों में धारण कर चुके हैं ।

[लकड़बग्घा धूं धूं शब्द के साथ तीव्र गर्जन करते घूमता हुआ, धनुष बाण लिये हुए राजा को देखकर भागता है । राजा उसके पीछे दौड़ता है और शवर उसका अनुगमन करता है ।]

तरक्षु—[केलिवन को सभी मनुष्यों से रहित देखकर] लकड़बग्घे के रूप में यह स्वयं मैं हूँ रसालक ।

[ऐसा कहकर लकड़बग्घे का वेश बदलकर विदूषक के रूप में प्रकट हो जाता है ।]

---

१ तरक्षु मू० पा० । २ 'क्व' इत्यस्य प्राकृतस्य पाण्डुलिपौ नास्ति । ३ शरासनके मू० पा० । ४ सणके मू० पा० । ५ भट्टालके मू० पा० ।

राजा—[विलोक्य सहर्षम्] सखे ! सदृशमाचरितं प्रतिज्ञातस्य प्रतिदिनमुपचीयमानस्य च सौहृदस्य। [शबरं प्रति] वनपाल ! तदिदानीं भवता शिला[1] तरक्षुमेकमानीय इहैव विशिखजालनिर्भिन्नं स्थापितवता तद्घुष्यतामभितो महाराजेन निहतस्तरक्षुरिति।

शबर[2]—यदाज्ञापयति स्वामी। (ज आणवेदि सामिके।)

[इति निष्क्रान्तः]

राजा—सखे ! पश्य, पश्य—

सह कुमुदकदम्बैः काममुल्लासयन्तः
सह घनतिमिरौघैर्धैर्यमुत्सादयन्तः[3]।

सदृशम्—योग्यम्, आचरितम्—अनुष्ठितम्,—उपचीयमानस्य—वर्धमानस्य, सौहृदस्य—बन्धुत्वस्य। शिलातरक्षुम्—प्रस्तरनिर्मितं तरक्षुम्। विशिखजालनिर्भिन्नम्—बाणैः विद्धम्, अभितः—चतुर्दिक्षु, घुष्यताम्—घोषणा क्रियताम्।

कुमुदकदम्बैः—कैरवसमूहैः, सह—साकं, कामम्—कन्दर्पम्, उल्लासयन्तः—प्रकाशयन्तः, घनतिमिरौघैः—घना निबिडा ये तिमिरौघा अन्धकारसमूहाः तैः, सह, धैर्यम्—चित्तस्थिरताम्, उत्सादयन्तः—नाशयन्तः, सरसिजषण्डे—पद्मसमूहे, सह, स्वान्तं—चित्तम्, आमीलयन्तः—कामवेगेन सम्मोहयन्तः अमृतांशोः—चन्द्रस्य, अंशवः—किरणाः, प्रतिदिशं—सर्वासु दिक्षु,

राजा—[देखकर हर्ष के साथ] मित्र ! प्रति दिन बढ़ने वाली मित्रता की प्रतिज्ञा के अनुरूप तुमने किया। [शबर से] वनपाल ! अब तुम पत्थर का एक लकड़बघा लाकर यहीं पर बाणों उसके टुकड़े टुकड़े कर डालो और सर्वत्र घोषणा कर दो कि महाराज ने लकड़बघे को मार डाला।

शबर—महाराज की जैसी आज्ञा।

[ऐसा कहकर चला जाता है]

राजा—मित्र ! देखो, देखो—

कुमुदफूलों के साथ कामासक्ति को जगाती हुई, मिटते हुए अन्धकार समूह के साथ (युवक-जनों के) धैर्य को तोड़ती हुई, कमल-

1 शैलातरक्षुमेकमानीय मू० पा०। 2 इयं संस्कृतच्छाया पाण्डुलिपौ नास्ति। 3 उत्सारयन्त इति पाठान्तरम्।

सह सरसिजषण्डैः ध्वान्तमामीलयन्तः
प्रतिदिशममृतांशोरंशवः[1] सञ्चरन्ति ॥७॥

विदूषक—भो वयस्य ! ममापि शृणु कवित्वम्—

एष शशधरबिम्बो दृश्यते हैयङ्गवीनपिण्ड इव ।
एते अस्य मयूखाः पतन्ति आशासु[2] दुग्धधारा इव ॥८॥
(एसो ससहरबिम्बो दीसइ हेअङ्गवीण[3] पिण्डोव्व ।
एदे अस्स मऊहा[4] पडन्ति[5] आसासु दुद्धधाराव्व[6] ॥८॥)

राजा—अहो भोजनरसिकता[7] प्रियवयस्यस्य । सखे ! तदिदानीं दर्शय कुतः प्रियतमा मे चन्द्रकला[8] ।

[ततः प्रविशति मदनावस्थां नाटयन्ती चन्द्रकला]

सञ्चरन्ति—प्रसरन्ति । अत्र अतिशयोक्तिमूला सहोक्तिरलङ्कारः, मालिनीच्छन्दः ॥७॥

एषः, शशधरबिम्बः—चन्द्रबिम्बः, हैयङ्गवीनपिण्ड इव—पूर्वदिनोत्पन्नदुग्धनिष्पन्नघृतपिण्ड इव, दृश्यते—अवलोक्यते अस्य—चन्द्रस्य, एते, मयूखाः—किरणाः, आशासु—दिक्षु, दुग्धधारा इव—क्षीरप्रवाहा इव, पतन्ति—वर्षन्तीत्यर्थः ॥८॥

समूहों के संकोच के साथ (विरह-ताप से) मेरे चित्त को संकुचित बनाती हुई चारों ओर चन्द्रमा की किरणें फैल रही हैं ॥७॥

विदूषक—हे मित्र ! अब मेरी भी कवि कल्पना सुनो—चन्द्रमा का यह बिम्ब जैसे मक्खन का गोलाकार पिंड है और ये इसकी किरणें दिशाओं में दूध की धारा सी बरस रही हैं ॥८॥

राजा—वाह रे मित्र की भोजनप्रियता !
तो अब हमारी प्रियतमा चन्द्रकला कहाँ है ? दिखाओ ।

[तभी काम-पीड़ित अवस्था में चन्द्रकला आती है]

---

१ रंशवः मू० पा० । २ पतन्त्याशासु इति पाठान्तरम् । ३ हेअङ्गविण मू० पा० । ४ एए अअस्स मोहा इति पाठभेदः । ५ पडिन्ति मू० पा० । ६ आसासुदुद्धधारव्व पाठान्तरम् । ७ रसिकविना मू० पा० । ८ चकला मू० पा० ।

चन्द्रकला—[दीर्घं निः श्वस्य]

यदि बद्धो[1] निबन्धस्त्वया तादृशे दुर्लभेऽर्थे ।
तत्किं हृदय खिद्यसे भुङ्क्ष्व[2] अविचारितस्य फलम् ॥६॥
(जतिबद्धो निबद्धो तए तारिम दुल्लहे अथ्थे ।
ताकिं हिअअ खिज्जसि भुजसु अविआरिअस्स फलं ॥६॥)

विदूषक—एतु एतु प्रियवयस्यः । (एदु, एदु पिअवअस्सो[3] ।)

[इत्यग्रतो भूत्वा पुरस्तादवलोक्य]

भो वयस्य ! पश्य, पश्य । इत एव सा ते[4] प्रियतमा । (भो वअस्स ! पेक्ख, पेक्ख[5] । इधज्जेव सा पिअतमा ।)

[अङ्गुल्या दर्शयति]

हृदय—चित्त, यदि—चेत्, त्वया, तादृशे, दुर्लभे—दुष्प्रापे, अर्थे—वस्तुनि, निबन्धः— प्रेमबन्धनम्, बद्धः—स्वीकृतः, तत्—तर्हि, किं—कथं, खिद्यसे—खिन्न भवसि ?, अविचारितस्य—विवेकमन्तरानुष्ठितस्य कार्यस्य, फलं—परिणामं, भुङ्क्ष्व— प्राप्नुहि ॥६॥

चन्द्रकला—[लंबी साँस लेकर]

हे हृदय ! यदि तुमने उस दुर्लभ जन में अनुराग करने का संकल्प कर लिया तो अब शोक क्यों कर रहे हो ? बिना आगा-पीछा सोचे कोई काम करने का जो फल होता है उसे भोगो ॥६॥

विदूषक—इधर आओ, मित्र ! इधर ।

[ऐसा कहकर आगे बढ़ता है और सामने देखकर]

मित्र ! देखो, देखो । यही है तुम्हारी प्रियतमा ।

[अंगुली से दिखाता है]

---

१ बद्धो मू० पा० । २ भुङ्क्ष्व मू० पा० । ३ एदु इत्येव एव मू० पा० । ४ ते इत्यस्य प्रोक्तस्य नास्ति सम्बन्धे । ५ पेक्ख २ मू० पा० ।

राजा—[विलोक्य सहर्षम्] एतद्वदनचन्द्रावलोकनेन क्षणेन क्षयमुपगतो मे सकलोऽपि हृदयसन्तापः । [पुनरवलोक्य] क्व पुनरयं मदनशरसम्पातजनितश्चित्तसन्तापोऽस्याः ?

रहितप्रियप्रयोगं निरस्तरागं निरुपहारमपि[1] ।
नर्तयति स्तनयुगलं सन्ततमन्तर्गतागतः[2] श्वासः ॥१०॥

किञ्च,

जरठलवलीपाण्डुक्षामं[3] जटालशिरोरुहं

एतद्वदनचन्द्रावलोकनेन—एतस्याः चन्द्रकलायाः वदनचन्द्रस्य मुखचन्द्रस्य अवलोकनेन दर्शनेन, क्षयं—नाशम्, उपगतः—प्राप्तः । मदनशरसम्पातजनितः—मदनशरस्य कामवाणस्य सम्पातेन पतनेन जनितः उत्पादितः ।

सन्ततं—सततम्, अन्तर्गतागतः—हृदयं गच्छति ततः आगच्छति च यः तादृशः, श्वासः—प्राणवायुः, रहितप्रियप्रयोगं—वल्लभकृतमर्दनादिवर्जितं, निरस्तरागं—कस्तूरीचन्दनादिलेपरहितं, निरुपहारमपि—आभूषणशून्यमपि, स्तनयुगलं—कुचद्वन्द्वं, नर्तयति—कम्पयति ॥१०॥

जरठलवलीपाण्डुक्षामं—जीर्णलवलीलतावत् पाण्डु तथा दुर्बलं,

राजा—[देखकर प्रसन्नतापूर्वक] इसके चन्द्रानन के दर्शनमात्र से क्षणभर में मेरे हृदय का सन्ताप नष्ट हो गया। [पुनः देखकर] कामदेव के तीखे बाणों से इसका हृदय क्यों संतप्त है ?

इसके दोनों स्तनों पर न तो (मृगमद की) रुचिकर पत्रकारी है, न चन्दन का लेप है और न हार ही यहाँ शोभित हो रहा है। उसको केवल (कामपीडा के कारण) हृदय से निरन्तर उठने वाला उच्छ्वास अपनी गति के कम्पन से नचा रहा है ॥१०॥

और भी—कस्तूरी, केशर, चन्दन आदि का लेप न लगने से रूक्ष कपोल वाली और अधखुली आँखों वाली यह मृगनयनी अपने शरीर को, जो पुरानी पड़ी लवली लता की तरह पीला तथा दुर्बल हो गया है और

१ निरुपहारमपि मू० पा० । २ अन्तर्गतागतैः मू० पा० । ३ जरजलवलीपाण्डुच्छायो इति पाठान्तरम् ।

ललितनलिनीपत्रे गात्रं निवेश्य मृगीदृशा ।
मुकुलितदृशा रागोद्भेदे[1] प्रभिन्नकपोलया
स्तिमितमनसा धन्यः प्रेयान् क एष विचिन्त्यते ॥११॥

विदूषक—भो वयस्य ! त्वां वर्जयित्वा कोऽन्य ईदृशानुरागबन्धशङ्कितव्य एतस्याः । न खलु कुसुमितं सहकारं वर्जयित्वा कलकण्ठी अन्यम् अभिलषति । न वा चन्द्रं वर्जयित्वा चन्द्रिकाया अन्यत्र प्रसारः । (भो वअस्स ! तुमं वज्जिअ को अण्णो इरिसाणुराअणिबन्धणं सङ्किदव्वो एदाए । ण क्खु कुसुमिदं सहआरं वज्जिअ कलकण्ठी अण्णं अहिलसदि । ण वा चन्दं वज्जिअ चन्दिआए अण्णदो पसारो ।)

जटालशिरोरुहम्—अस्तव्यस्तकेश, गात्रं—शरीरं, ललितनलिनीपत्रे सुन्दरकमलिनीदले, निवेश्य—स्थापयित्वा, मुकुलितदृशा—निमीलितनेत्रया, रागोद्भेदप्रभिन्नकपोलया—कुङ्कुमादिलेपाभावादशोभितकपोलवत्या,(अनया) मृगीदृशा—हरिणाक्ष्या, स्तिमितमनसा—क एष, धन्यः—भाग्यशाली, प्रेयान्—अतिप्रियः, विचिन्त्यते—ध्यायते । अत्र हरिणीच्छन्दः ॥११॥

वर्जयित्वा—त्यक्त्वा, ईदृशानुरागबन्धः—ईदृशः अनुरागबन्धः प्रेमबन्धनं यस्मिन् तादृशः । कुसुमितं—पुष्पितं, सहकारम्—आम्रवृक्षं, कलकण्ठी—कोकिला, अभिलषति—वाञ्छति । चन्द्रिकायाः—कौमुद्याः, प्रसारः—गमनम् ।

जिसके बाल उलझकर जटा बन गये हैं, कमल के कोमल पत्तों की शय्या पर लिटाकर पीड़ित मन से किस भाग्यशाली प्रियतम का चिन्तन कर रही है ? ॥११॥

विदूषक—मित्र ! तुम्हारे अतिरिक्त और कौन है, जो इससे अनुरागबद्ध हो सकता है ? क्या संभव है कि कोयल पुष्पित आम्र को छोड़कर अन्य वृक्ष की अभिलाषा करे ? चन्द्रमा के अतिरिक्त क्या अन्यत्र चन्द्रिका का प्रसार संभव है ? कदापि नहीं ।

---

१ रागाद्भेदो मू० पा० ।

राजा—तत्क्षणमत्रैव लतान्तरितौ जानीवस्तावत् ।

[इत्युभौ लतान्तरितौ पश्यतः]

चन्द्रकला—[पुनर्नि श्वस्य, 'जइ वद्धो' इत्यादि पठित्वा अग्रतोऽवलोक्य]—मातः ! कथमिदानीम् । (अम्बो ! कध दाणि ।)

एकत्र प्रियविरहोऽन्यत्र एष समुदितश्चन्द्रः ।
घातस्योपरि घातो मय्येकत्र कृतो विधिना ॥१२॥
(एक्कत्तो पिअविरहो अण्णत्तो एस समुइओ चन्दो ।
घाअस्स उवरि[1] घाओ मइ एक्कत्तो किदो विहिणा ॥१२

तदिदानीम् अमृतमयूखेन यथा दिक्षु पुनरपि एव किरणजालं न विस्तार्यते[1], तथा विनिवेदयामि । (तादाणि अमिअमउहेण[2] जधा दुसु पुणोवि एद करजाअ[3] ण वित्थारि अदि तधा णिवेदेह्मि ।)

एकत्र—एकतः, प्रियविरहः—प्रियेण कान्तेन विरहः वियोगः, अन्यत्र—अन्यतः, एषः—अयं, चन्द्रः—चन्द्रमा, समुदितः—सम्यक् उदयं प्राप्तः, विधिना—दैवेन, मयि, एकत्र, घातस्य—प्रहारस्य, उपरि, घातः—प्रहारः, कृतः—विहितः ॥१२॥

अमृतमयूखेन—चन्द्रेण, किरणजालं—किरणसमूहः, न विस्तार्यते—न प्रसार्यते, विनिवेदयामि—निवेदनं करोमि ।

राजा—तो क्षण भर लता की ओट में होकर हम दोनों सत्यता का ज्ञान करें।

[दोनों लता की ओट से देखते हैं]

चन्द्रकला—[साँस लेकर 'यदि दुर्लभ जन में' इत्यादि कहती हुई सामने देखकर] मात ! इस समय किस प्रकार धैर्य रखूं—

एक ओर तो प्रिय का वियोग था ही, दूसरी ओर यह चन्द्रमा उदित हो गया। भाग्य एक ही समय चोट पर चोट देकर मुझे दूनी पीड़ा दे रहा है ॥१२॥

इसलिए अब मैं अमृतकिरण चन्द्रमा से प्रार्थना करूंगी कि वह किरण-जाल को दिशाओं में न फैलाए।

१ विस्तारयति मू० पा० । २ अमिअमचिहेण मू० पा० । ३ करजाण मू० पा० ।

[इति चन्द्रं प्रति साञ्जलिबद्धम्]

त्वया सह्रियते तमो गृह्यते सकलैस्ते पाद ।
वससि शिरसि पशुपते त्वं विधो स्त्रीजीवनं हरसि ॥१३॥

(तए सहरिज्जई तमो गेह्लई सअलेहिं दे पाओ ।
वससि सिरे पसुवईणो तह विहु इथ्थी जीवण हरसि ॥१३॥

तदिदानीं मेघान्तरेऽपि गोपयस्व आत्मानम् । अलमेतेन दुर्जनोचितेनआचरितेन । [सरोपम्] आ, कथम् अतिदीनतया मया एवमभ्यर्थितोऽपि पुनः पुनरपि वर्षसि मयि विषसवलितं किरणजालम् । हुं, जाने यत्किल बाह्यदर्शितप्रसादानामपि कलुषितान्तराणां स्वभाव एव एष । (तादाणि मेहन्तरेवि गोतवसुअअन्ताण अलमेदिणा

त्वया—चन्द्रेण, तमः—अन्धकारः, सह्रियते विनाश्यते, सकलैः—समस्तैः (चराचरैः), ते—तव, पादः—किरणः, गृह्यते—धार्यते च, विधो—चन्द्र !, त्वं, पशुपतेः—शिवस्य, शिरसि—मूर्ध्नि, वससि—निवासं करोषि, (तर्हि कथं) स्त्रीजीवनम्—अबलाप्राणान्, हरसि—नाशयसि ? ॥१३॥

मेघान्तरेऽपि—मेघमध्येऽपि, आत्मानं—स्वं, गोपयस्व—आवृणु । दुर्जनोचितेन—दुष्टमार्गेण, आचरितेन—आचरणेन । सरोषम्—रोषसहितम्, अभ्यर्थितोऽपि—प्रार्थितोऽपि, विषसवलितं—विषाक्तम् । किल—प्रसिद्धार्थकमव्यय-

---

[हाथ जोड़कर चन्द्रमा के प्रति]

हे चन्द्रमा ! तुम अन्धकार का नाश करते हो, तुम्हारे किरण रूपी चरण का लता-वनस्पति सभी स्वागत करते हैं । यहाँ तक कि तुम पशुपति शिव के सिर पर निवास करते हो । तुम्हारी जहाँ इतनी महिमा है वहीं यह तुच्छ काम क्यों करते हो कि मुझ अबला स्त्री के प्राण ले रहे हो ॥१३॥

तो अब स्वयं को बादलों में छिपा लो । दुर्जनों की भाँति यह आचरण अब बन्द कर दो । [रोष से] बड़ी दीनता के साथ मैंने तुमसे प्रार्थना की तोभी तुम बार-बार इन विषमयी किरणों की वर्षा मेरे ऊपर कर रहे हो !

धुज्जणोद्देण आआरिदेण। [सरोषम्] आ, कघ अदिदीणदाए मए एव्व अब्भत्थिदोवि पुणो पुणोवि वरिससि मयि विससव्वलिद किरणजालम्। [विचिन्त्य] हु, जाणे ज किल वाहिरदसिदप्पसादाण वि कलुसिदन्तराण सभावोज्जेव एसो।)

[आकाशे अञ्जलिं बद्ध्वा]

ह हो, कुसुमायुधलीलामात्रवशीकृताशेषलोकमहाराजचित्ररथ इव कथमतिदीनाया मयि एव निष्करुणो भूत्वा पुन पुनर्विक्षिपसि विशिखजालम्। (ह हो, कुसुमाओहलिलामेत्त वसाकिदासेसलोअमहाराअ चित्तरधो विअ कध अदिदीणाए मइ एव्व णिक्करुणो भविअ पुणो-पुणो विक्खिवसि[1] विसिहजालम्।)

विदूषक—भो वयस्य! शृणु तावत् शृणु तावत्[2]। कथ न सम्भावयसि आत्मनिर्बन्धमेतस्या अनुरागबन्धम्। (भो वअस्स,

---

मेतत्। बाह्यदर्शितप्रसादानाम्—बाह्यत दर्शित प्रसाद प्रसन्नता यै तादृशाना, कलुषिता तराणा—मलिनचित्तवृत्तीना (जनानाम्)। ह हो—सम्बोधनार्थकमव्ययमेतत्, कुसुमायुधलीलामात्रवशीकृताशेषलोकमहाराजचित्ररथ —कुसुमायुध कन्दर्प इव लीलामात्रेण अनायासेन वशीकृत अधीनीकृत अशेषलोक सम्पूर्णलोक येन तादृशो महाराज चित्ररथ, निष्करुण—निर्दय, विशिखजाल—किरणसमूहम्। एतस्या—चन्द्रकलाया, आत्मनिर्बन्ध—स्वनिष्ठम्, अनुरागबन्ध—प्रेमबन्धन, कथ, न सम्भावयसि—न सम्मानयसि ?

[सोचकर] अच्छा मैंने समझा—कलुषित अन्त करण वालों का यह स्वभाव ही है कि वे वाह्य रूप में ही केवल प्रसन्न होते हैं।

[आकाश की ओर हाथों को जोड़कर]

अरे, क्यो तुम भी कामदेव की तरह लीलामात्र से सम्पूर्ण लोक को वश में करने वाले महाराज चित्ररथ की भाँति मुझ असहाय पर निर्दयतापूर्वक बाण मार रहे हो ?

विदूषक—मित्र! सुनो। तुम इसके अनुराग को, जो तुममें अनुरक्त है,

---

१ विक्खवसि मू० पा०। २ अत्र मू० पा० द्विधा नास्ति।

सुण दाव, सुण दाव[1]। कधं ण सम्भावेसि अप्पणिबन्धणं एदाए अणुराअबन्धम्।)

राजा—[सहर्षम्] सखे, शृणु तावत्—

एकातपत्रं वसुधाधिपत्य-[2]
मैन्द्रं पदं वाऽमरवृन्दवन्द्यम्,
मनोरथोऽध्यासितुमुत्सहेत
न चेदृशश्चारुदृशोऽनुरागः ॥१४

चन्द्रकला-[विचिन्त्य] कथमेतावन्तं कालं विलम्बते दीर्घिकासुनलिनीदलमृणालानि आनेतुं गता मे प्रियसखी सुनन्दना। (कधं एत्तिकं कालं बिलम्बेदि दीहिआदोणलणीदल[3] मूणालाई[4] आणीदुं गदा मे पिअसहि सुणन्दणा।)

एकातपत्रपम्—एकच्छत्रं, वसुधाधिपत्यं—पृथ्वीसाम्राज्यं, वा—अथवा, अमरवृन्दवन्द्यम्—देवसमूहवन्दनीयम्, ऐन्द्रं पदं—देवराजपदं, (मे) मनोरथः—अभिलाषः, अध्यासितुम्—उपवेष्टुं, न उत्सहेत—न उत्साहं कुर्यात्, (चेत्) ईदृशः, चारुदृशः—शोभनाक्ष्याः, अनुरागः—प्रेम (लभ्येत) अत्र उपजातिश्छन्दः ॥१४॥

दीर्घिकासुनलिनीदलमृणालानि—वापीतः कमलिनीपत्राणि बिसानि च।

क्यों नही स्वीकार करते हो ?

राजा—[हर्ष के साथ] मित्र ! तो फिर सुनो—क्यों नही स्वीकार करते हो ?

एकछत्र पृथिवी का साम्राज्य, यहाँ तक कि देवसमूहों द्वारा वन्दित इन्द्र-पद पर भी मेरा मनोरथ बैठना नहीं चाहता यदि ऐसी मोहक चितवन वाली का ऐसा अनुराग प्राप्त हो सके ॥१४॥

चन्द्रकला—[सोचकर] क्या कारण है कि सरोवर से कमलिनीपत्र और मृणाल लाने के लिए गयी हुई मेरी सखी सुनन्दना इतना विलंब कर रही है ?

---

१ सुणुदाव १ मू० पा०। २ वसुधाधिपत्य मू० पा०। ३ दोणलणीदमूलाणाई मू० पा०। ४ अत्र दीहिआसुणलिणिदलमूलाणाई इति पाठस्सूचितः।

[प्रविश्य सुनन्दना[1]]

सुनन्दना—सखि ! एतानि नलिनीदलमृणालानि उपशमयन्तु ते हृदयसन्तापम् । (हला, एदाइं णलिणीदलमूणालाइं[2] उवसमावेदु दे हिअअसंवादम् ।)

चन्द्रकला—सखि ! अलमिदानीमेतैः । पुनः पुनरपि अङ्गेषु हलाहलं वर्षतोऽमुष्माद् दुष्टरजनीकरात् रक्षयितुमशरणाहं[3] प्रियसखि ! (हला ! अलं दाणि एदेहिं । । पुणो पुणोवि अङ्गेसु हलाहलं वरिसन्तो ईमादो दुट्ठरअणीअरादो रक्खिदुं[4] असरणा अहं पिअसहिए ।)

[इति मूर्च्छिता पतति]

राजा—[ससम्भ्रममुपसृत्य] प्रिये ! समाश्वसिहि, समाश्वसिहि ।

तवाननसुधाधामजितः कलुषितान्तरः ।

उपशमयन्तु—शान्तं कुर्वन्तु । हलाहलं—विषम्, दुष्टरजनीकरात्—दुष्टचन्द्रात्, अशरणा—रक्षितृरहिता ।

देवि—प्रिये !, तवाननसुधाधामजितः—तव मुखचन्द्रेण पराजितः कलुषितान्तरः—मलिनचित्तः, एषः—दृश्यमानः, रजनीकरः— चन्द्रः,

---

[सुनन्दना प्रवेश करके]

सुनन्दना-सखी ! ये कमलिनीपत्र और मृणाल तुम्हारे हृदय के सन्ताप को शान्त करें ।

चन्द्रकला—सखि ! अब यह सब व्यर्थ है । यह दुष्ट चन्द्रमा अपनी किरणों से बार-बार जो विष मेरे ऊपर बरसा रहा है, उससे मैं रक्षा करने मे असमर्थ होकर असहाय हो गई हूँ, प्रियसखी ! ।

[कहती हुई मूर्च्छित होकर गिर पड़ती है]

राजा-[शीघ्रता से समीप पहुँचकर] प्रिये ! धीरज रखो, धीरज रखो। तुम्हारे मुखचन्द्र से पराजित होने के कारण हृदय में द्वेष भर-

---

१ सुनन्दना मू० पा० । २ मूलाइं मू० पा० । ३ करादरक्षे उद्दं अशरणा मू० पा० । ४ असरक्खिदुं मू० पा० ।

दहत्यतिशय देवि त्वामेष रजनीकर ॥१५॥

सुनन्दना—[विलोक्य सानन्दम्] दिष्ट्या वर्धे। भर्त[1]! इय[2] खलु स्वभावत. नवमालिकाकुसुमपरिपेलवा त्वत्[3] कृतविरहवेदनानि - सहा जन्मत प्रभृति अननुभूत[4] दु खसागरनिमग्ना तपस्विनी मे प्रियसखी चन्द्रकला प्रभवति न इदानीम आत्मनोऽङ्गेषु। तत्करे गृहीत्वा उत्थापयतु[5] तावदेनाम्। (दिट्ठिआ वत्तेमि। भट्टा! ईअ क्खु सभावदो णोमालिआकुसुमपरिपेलवा तुहकिदविरहवेदणाणीसहा जन्मदो पहुदि अणणुभूददु खसाअरणिमण्णा तवस्सिणी मे पिअसही चन्दअला प्पभवदि ण दाणिअत्तणो अङ्गेसु। ता करे गेह्लिअ उथ्थावेदिअ दावण।)

त्वा—भवतीम्, अतिशयम्—अत्यन्त यथा स्यात् तथा, दहति—भस्मीकरोति ॥१५॥

दिष्ट्या वर्धे—अहो भाग्यमित्यर्थ। इय—चन्द्रकला, स्वभावत—प्रकृत्या, नवमालिकाकुसुमपरिपेलवा—नवमल्लिकापुष्पवत् कोमला, त्वत्कृतविरहवेदनानि सहा—त्वद्वियोगवेदना सोढुमसमर्था, जन्मत. प्रभृति—जन्मादारभ्य, अननुभूतदु खसागरनिमग्ना—अननुभूतदु खरूपे समुद्रे पतिता, तपस्विनी—वराकी, चन्द्रकला, आत्मनोऽङ्गेषु न प्रभवति—स्वाङ्गानि धारयितुमक्षमेत्यर्थ.।

कर चन्द्रमा हे देवि! तुम्हें पूरी तरह से जला रहा है ॥१५॥

सुनन्दना—[देखकर आनन्द के साथ] मैं बड़ी भाग्यशालिनी हूँ। महाराज! मेरी सखी यह चन्द्रकला, जो स्वभाव से ही नवमल्लिका के कुसुमों की भाँति कोमल है, आपके वियोग-शोक को सहन करने में असमर्थ हो गई है। क्योंकि जन्म से अबतक इस प्रकार की वेदना का अनुभव उसने कभी नहीं किया था। इस अननुभूत दुःख-सागर में निमग्न बेचारी मेरी प्रियसखी चन्द्रकला अपने अंगों पर भी अधिकार नहीं रख पा रही है। अतएव आप हाथ पकड़कर उसे उठाइए।

---

१ भर्तृ मू० पा०। २ इम मू० पा०। ३ त्वत्कृतविरहवेदनानि सहा मू० पा०। ४ सदनुभूत मू० पा०। ५ उत्थापय मू० पा०।

[इति निष्क्रान्ता]

राजा—इदमेवोचितमिदानीम् । [इति करे धृत्वा चन्द्रकलामुत्थापयन् स्पर्शसुखमभिनीय] अहो कथमिदानीम्—

करपल्लवसङ्गेन सममेव मृगीदृशः ।
निमग्नमिव मे स्वान्तमुदन्वति सुधामये ॥१६॥

[प्रविश्यापटीक्षेपेण सम्भ्रान्ता सुनन्दना]

सुनन्दना—सखी चन्द्रकले ! त्वरितम् एह्येहि । इयं खलु देवी महाराजं निहततरक्षुवरं श्रुत्वा गृहीतार्घा सपरिवारा इत आगच्छति । (हला चन्दअले ! तुरिद एहि, एहि । इअं क्खु देवी महाराअं णिहददरक्खुवरं सुणिअ गिहिदअग्घा सवरिवारा इध आअच्छदि ।)

मृगीदृशः—मृगनयनायाः (चन्द्रकलायाः), करपल्लवसङ्गेन—किसलयवत् कोमलहस्तस्पर्शेन, सममेव—साकमेव, सुधामये-अमृतमये, उदन्वति-समुद्रे, मे—मम, स्वान्तं-हृदयं, निमग्नमिव-मग्नमिव (भाति) ॥१६॥

निहततरक्षुवरम्—निहतः व्यापादितः तरक्षुवरः व्याघ्रश्रेष्ठो येन तादृशं, महाराजं, गृहीतार्घा—गृहीतः हस्ते धृतः अर्घः पूजार्थमाहृतं दूर्वादुग्धाक्षतमिश्रितजलं यया तादृशी, सपरिवारा—परिजनसहिता ।

[कहकर चली जाती है]

राजा—इस समय यही उचित है। [कहता हुआ हाथ पकडकर चन्द्रकला को उठाता है और स्पर्शजनित सुख का अभिनय करके] अहा ! कैसे इस समय—

इस मृगनयनी के कर-पल्लव के स्पर्श के साथ ही ऐसा मालूम पडता है कि मेरा हृदय सुधा के समुद्र में डूब गया है ॥१६॥

[परदा उठाकर सुनन्दना प्रवेश करती है]

सुनन्दना—*प्रियसखी ! शीघ्र चलो । यह जानकर कि महाराज ने लकड-बग्घे को मार डाला है, उन्हें सम्मान देने के लिए ये महारानी अपनी सभी परिचारिकाओं के साथ इधर ही आ रही हैं ।*

[सर्वाः ससम्भ्रम परिक्रामन्ति[1] चन्द्रकला कतिचित् पदानि गत्वा सोद्वेग दीर्घं निःश्वस्य परावृत्त्यैव[2] राजानमवलोकयन्ती भूमौ पतति]

सुनन्दना—[ससम्भ्रममुत्थाप्य] सखि ! त्वरितमेह्येहि। (हला ! तुरिदं एहि, एहि।)

[इति निष्क्रान्ता]

राजा—[अग्रतोऽवलोक्य ससम्भ्रमम्] सखे ! इयमङ्गुलिभ्रष्टा चन्द्रकलाया मणिमुद्रिका, तदिदानीमिमामञ्चले बद्ध्वा[3] गोपयतु[4] भवान्।

[विदूषकः तथा करोति]

[ततः प्रविशति सार्घपात्रपरिवारा देवी रतिकला च]

अङ्गुलिभ्रष्टा—अङ्गुलितः च्युता, मणिमुद्रिका—मणिनिर्मिताङ्गुलीयकम्।

[सभी घबड़ाहट के घूम जाती हैं और चन्द्रकला कुछ कदम चलकर उद्वेग से लंबी साँस खींचकर, पीछे की ओर लौटती हुई, राजा की ओर दृष्टि लगाये, भूमि पर गिर पड़ती है।]

सुनन्दना—[शीघ्रता के साथ उसे उठाकर] सखी ! शीघ्र आओ, शीघ्र।

[कहकर चली जाती है]

राजा—[सामने देखकर उतावली में] मित्र ! यह मणिमुद्रिका चन्द्रकला की उँगली से निकलकर गिर पड़ी है। तुम उसे अपने वस्त्रांचल में बाँधकर छिपाये रहो।

[विदूषक उसी प्रकार करता है]

[इसके पश्चात् पूजन के लिए अर्घपात्र तथा परिचारिकाओं को साथ लिए महारानी और रतिकला प्रवेश करती हैं]

---

१ परिक्रामति मू० पा०। २ परावृत्यैव मू० पा०। ३ बध्वा मू० पा०। ४ गोपयितु मू० पा०।

देवी—सखि रतिकले ! तादृशोऽपि तरक्षुर्यमगृहं प्रापित आर्यपुत्रेण । (हला रतिअले ! तादिसोवि तरक्खू जमघरं पाविदो अज्जउत्तेण ।)

रतिकला—सखि ! निरुपमधनुर्विद्यालघूकृतभीमानुजस्य तव वल्लभस्य पुनः कीदृश एष तरक्षुः ! (हला, णिरुवमधनुविज्जलहुकिदभीमाणुअस्स तुह वल्लहस्स पुणो कीदिसो एसो तरक्खू !)

देवी—चेटि माधविके ! दर्शय मार्गम् आर्यपुत्रस्य समीपगमनाय । (हञ्जे माधवीए ! दसेहि मग्गं अज्जउत्तस्स समीवगमणाअ[१] ।)

चेटी—भट्टिनि ! यथा एष दक्षिणप्रदेशात् निरुपमो मकरन्दपरिमल[२] आगच्छति, तथा तर्कयामि इत एव अदूरस्थिते अशोकमण्डपे भविष्यति भर्ता । (भट्टिणि ! जधा एसो दक्खिणएदेसादो णिरुवमो मअरन्दपरिमलो आअच्छदि तथा तक्केमि इधज्जेव अदूरट्ठिदे असोअमण्डवे भविस्सदि भट्टा ।)

यमगृहप्रापितः—यमालयं नीतः मारित इत्यर्थः । निरुपमधनुर्विद्यालघूकृतभीमानुजस्य—धनुर्विद्यया लघूकृतः तुच्छीकृतः भीमानुजः अर्जुनः येन तादृशस्य अतएव अद्वितीयस्य, तव वल्लभस्य—तव कान्तस्य । मकरन्दपरिमलः—सहकारसौरभम् ।

देवी—सखी रतिकला ! उस प्रकार का भी भयंकर लकड़बग्घा महाराज द्वारा मार डाला गया ?

रतिकला—सखी अद्वितीय तथा धनुर्विद्या में अर्जुन को भी मात करने वाले तुम्हारे स्वामी के लिए यह लकड़बग्घा क्या चीज था ? कुछ नहीं ।

चेटी—स्वामिनि ! जो यह अनुपम मकरन्द की सुगंध दक्षिण प्रदेश से आ रही है, मैं सोचती हूँ कि उधर ही थोड़ी दूर पर अशोक-मण्डप के तल महाराज होंगे ।

---

१ समवगमणाअ मू० पा० । २ मकरन्दपरिमलो मू० पा० ।

देवी—तद्दर्शय मार्गम्। (ता दसेहि मग्ग।)

चेटी—एतु, एतु, भट्टिनि[1]। (एदु, एदु, भट्टिणी।)

[इति सर्वा परिक्रामन्ति]

रतिकला—[अग्रत. पन्थान निरूप्य साशङ्कम्] सखि ! यथा इह अभिनवसुलक्षणाया.[2] कस्या इव पदपद्धतिर्दृश्यते, तथा तर्कयामि त्वा गोपयन् भर्ता कस्या अपि कामिन्या आसक्तो वर्तते। (हला ! जधा इह अभिणवसुलक्खणाए का एविअ पदपद्दती दीसदि तधा तक्केमि तुम गोवेन्तो भट्टा का एवि कामिणीए आसत्तो वट्टदि।)

देवी—[सरोषमिव] सखि ! कथ त्वया ईदृशापि[3] खलवचसा अविचारितेन आचक्ष्यते[4] यथा जन्मत प्रभृति अक्षुण्णतादृशानुरागस्य

पन्थान—मार्ग, निरूप्य—सम्यग्दृष्ट्वा, साशङ्कम्—आशङ्कया सन्देहेन सहितम्। अभिनवसुलक्षणाया—सामुद्रिकशुभलक्षणसम्पन्नाया नवयुवत्या, पदपद्धति—चरणचिह्नम्। तर्कयामि—अनुमिनोमि, कामिन्या—रमण्या (अत्र शेषत्वविवक्षया सप्तम्यर्थे षष्ठी)। खलवचसा—दुष्टवचनेन, आचक्ष्यते—कथ्यते, अक्षुण्णतादृशानुरागस्य—अक्षुण्ण अप्रतिहत तादृश अनुराग प्रेम यस्य तादृशस्य, अमनोवृत्तिसम्भावनीय—मनसापि एव न

देवी—तो मार्ग दिखाओ।

चेटी—आइए, आइए स्वामिनी !

[सभी घूम जाती हैं]

रतिकला—[आगे मार्ग को देखकर शकापूर्वक] सखी ! इधर तो किसी नवयुवती के पद-चिह्न पड रहे हैं। वह युवती अनेक शुभलक्षणो से युक्त है। मुझे शका है कि महाराज तुमसे छिपाकर उसी प्रकार की किसी सुन्दर युवती मे आसक्त हो गये हैं।

देवी—[रोष मे] तुम इस प्रकार के दुर्वचन बिना सोच-विचार के

१ भर्ता मू० पा०। २ अभिनवागुलण्या मू० पा०। ३ ईदृशोऽ० मू० पा०। ४ आचक्षते मू० पा०।

आर्यपुत्रस्यापि[1] ईदृशोऽप्यमनोवृत्तिसम्भावनीयोऽतिक्रमो मम दुर्घट उत्पाद्यते। (हला ! कध तए ईदिसोबि खलवचसा अविआरिदेण आचक्खीअदि। जाए जन्मदोपहुदि अवखुचिदतादिसाणुराअस्स अज्जउत्तस्सवि[2] ईदिसोवि अमणोवित्तमम्भावणिज्जो अदिक्कमो मुहदुग्घड उप्पडिअदि।)

माधविका—पश्यतु, पश्यतु भट्टिनी। इहैवाशोकमण्डपे प्रियवयस्येन सम किमपि किमपि[3] मन्त्रयमाणो वर्तते एप भर्ता। (पेक्खदु, पेक्खदु भट्टिणी। ईधज्जेव असोअमण्डवे पिअवअस्सेण[4] सम किंपि किंपि मन्तन्तो[5] वट्टदि एसो भट्टा।)

[इत्यङ्गुल्या निर्दिशति]

देवी—[विलोक्य सानन्दम्] निहनतादृशनरक्षोरेपोऽर्ध आर्यपुत्रस्य। (णिहदतादिसतरक्खुणो एसो अग्गो अज्जउत्तस्स।)

सम्भावनीय इति यावत्, अतिक्रम —उल्लङ्घनम्, दुर्घट —कदापि घटितु न योग्य। मन्त्रयमाण —परामर्शं कुर्वाण।

क्या कह रही हो ? ऐसी कष्टदायक सभावना, जो तुम उत्पन्न करना चाहती हो, नितान्त असम्भव है। क्योंकि प्रारभ से ही महाराज का मेरे प्रति अत्यन्त ही दृढ अनुराग रहा है और वह उसी प्रकार का बना हुआ है। उनके अदर ऐसी मनोवृत्ति की सभावना मेरे हृदय मे हो ही नही सकती।

माधविका—देखिए स्वामिनी ! देखिए—वास्तव मे यही अशोक-मण्डप के तले महाराज मित्र विदूषक के साथ कुछ मन्त्रणा-सी करते हुए उपस्थित है।

[कहती हुई अगुली से सकेत करती है]

देवी—[देखकर प्रसन्नतापूर्वक] लड़कपन के सहारे अपने पति के लिए यह अर्घ्य है।

---

१ आर्यपुत्रस्य मू० पा०। २ अज्जउत्तस्यवि मू० पा०। ३ एव एव 'किमपि' मू० पा०। ४ पिअस्सेण मू० पा०। ५ मन्तो मू० पा०।

[इति राज्ञोऽर्घमुपनयति]

राजा—एह्येहि। अत्रोपविश तावत्।

देवी—[उपविशति]

राजा—प्रियेऽपराध्योऽस्मि भवत्याः। यतः—

भवतीं विनापि परितः प्रसरदमलरोहिणीरमणकिरणगणरमणीयाम्।
सफुल्लमल्लिकापरिमलमिलदलिकुलमधुरझङ्कारमुखरिताशाम् ॥१७॥
केलिवनीमिमामध्यासीन एतावन्तं कालमनयम्[1]।

अपराध्यः—अपराद्धुं योग्यः अपराधीति यावत्।

भवतीं—त्वां, विनापि—ऋतेऽपि, परितः—समन्तात्, प्रसरदमलरोहिणीरमणकिरणगणरमणीयां—प्रसरद्भिः विस्तारमाप्नुवद्भिः रोहिणीरमणस्य चन्द्रस्य किरणगणैः रश्मिसमूहैः रमणीयां शोभनीयां, सफुल्लमल्लिकापरिमलमिलदलिकुलमधुरझङ्कारमुखरिताशां—संफुल्लायाः विकसितायाः मल्लिकायाः मालत्याः परिमलेन सुगन्धेन मिलता संगच्छताम् अलिकुलानां भ्रमरसमूहानां मधुरझङ्कारैः हृद्यगुञ्जारवैः मुखरिताः शब्दिताः आशाः दिशः यस्याः तादृशीम् ॥१७॥

इमां—दृश्यमानां, केलिवनीं—क्रीडोद्यानम्, अध्यासीनः—उपविशन्, एतावन्तं, कालम्, अनयम्—व्यत्यापयम् अहमिति शेषः।

[कहकर राजा को अर्घ्य देती है]

राजा-आओ, आओ। यहाँ बैठो।

[देवी बैठती है]

राजा-प्रिये! मैं तुम्हारा अपराधी हूँ क्योंकि—

मैंने तुम्हारे बिना ही (अकेले), चारों ओर चन्द्रमा की फैलती हुई निर्मल किरणों से रमणीय, भली भाँति फूली हुई मल्लिका के परिमल से सराबोर भौंरों के मधुर गुंजार से मुखरित होती हुई दिशाओं वाले ॥१७॥ इस क्रीडा-उपवन में बैठकर इतना समय व्यतीत कर दिया।

[1] नेयं मू० पा०।

देवी—आर्यपुत्र ! न खलु त्वमपराध्य. किन्त्वहं, यया तादृशतरक्षुमुखं गच्छन्तं त्वाम् अननुगम्य अन्तःपुरं प्रविष्टम् । (अज्जउत्त ! ण क्खु[1] तुमं अवरद्धो किंतु अहं जाए तादिसतरक्खुमुहं गच्छन्दं तुमं अणणुगदुअ अन्तेउरं पविट्ठं ।)

विदूषकः—निहततादृशतरक्षुं प्रियवयस्यं श्रुत्वा किमिति न ददाति मे पारितोषिकं देवी । (णिहदतादिसतरक्खं पिअवअस्सं सुणिअ किन्ति ण देदि मे पारिदोसिअं देवी ।)

देवी—गृह्णातु[2] प्रियवयस्यः । (गेह्णदु पिअवअस्सो ।)

[इति कण्ठतो हारं विदूषकाय प्रयच्छति]

विदूषकः—[हारमात्मनः कण्ठे निवेश्य सहर्षम्] आश्चर्यम् ! अनेन हारेण निरुपमं[3] सौभाग्यमधिगतो मे कण्ठः । तदिदानीमिमामङ्गुलीयकेन अलंकरवाणि । (ही ही भो ! ईमिणा हारेण णिउवमं

तादृशतरक्षुमुखम्—तादृशव्याघ्रमुखम्, अननुगम्य—अननुसृत्य अनुगमनं न कृत्वेति यावत् । पारितोषिकं—पुरस्कारम् । निरुपमम्—उपमारहितम् अद्वितीयमिति यावत्, अधिगतः—प्राप्तः । अलंकरवाणि—भूषयाणि ।

देवी—आप नहीं, मैं अपराधिनी हूँ, आर्यपुत्र ! जो उस लकड़बग्घे के मुख में जाते हुए आपको छोड़कर मैं अन्तःपुर को चली गई ।

विदूषक-महारानी जी ! आपने यह सुनकर भी कि मेरे प्रिय मित्र ने उस लकड़बग्घे को मार डाला, मुझे कुछ पुरस्कार नहीं दे रही हैं ।

देवी—यह लें प्रिय मित्र !

[कण्ठहार विदूषक को देती है]

विदूषक—[हार को अपने कंठ में डालकर प्रसन्नतापूर्वक] अहा, हा, हा ! इस हार से तो मेरे कंठ ने अनुपम सुन्दरता को प्राप्त कर लिया । तो अब इस अंगूठी से अंगुलि को अलंकृत करूँ । [कहता हुआ, वस्त्राचल से चन्द्रकला की अंगूठी निकाल कर, अपनी अंगुली में पहन लेता है और अभि-

१ क्खु मू० पा० । २ गृह्णातु मू० पा० । ३ निरुपमं मू० पा० ।

सोहग्गमधिगदो मे कण्ठो। तादाणि ईम अङ्गुलिं ईमिणा अङ्गुलिअएण अलकरोम्मि।) [इति चेलाञ्चलाच्चन्द्रकलामुद्रिकामादायात्मनोऽङ्गुल्या निवेश्य सगर्वमुरो विस्तीर्य अङ्गुलिं प्रसारयन् देवीपरिवारिका प्रति] दास्या दुहितर ! प्रेक्षध्व मे सुन्दरम्। (दासीए दुहिदाए ! पेक्खध मे सुन्दरम्।)

रतिकला—[विलोक्य जनान्तिकम्] सखि ! पूर्वं खलु त्वय अहमसत्यभाषिणी खलेति बहु जल्पिता। पश्य, इदानी कस्या इद मङ्गुलीयकम्। (हला ! पुव्व क्खु तए अह असच्चभासिणी खलत्ति बहु जल्पिता। पेक्ख. दाणि काए इद अङ्गुलिअअ।)

देवी—[विलोक्य साशङ्कम्] ननु चन्द्रकलाया. ! (चन्दकलाए !)

रतिकला—कोऽत्रापि सशय ? (को एत्थ वि ससओ ?)

देवी— [दीर्घमुच्छ्वस्य][1] अहो ! सर्वथा अविश्वसनीया ए

चेलाञ्चलात्—वस्त्रप्रान्तात्, निवेश्य-प्रवेश्य, सगर्व—साभिमानम्, उर —वक्ष विस्तीर्य—प्रसार्य, देवीपरिवारिका—देव्या परिजनान्।

असत्यभाषिणी—मिथ्यावादिनी, खला—दुष्टा, बहु—अधिक यथा स्या तथा, जल्पिता—उक्ता। अविश्वसनीया —विश्वास कर्तुं न योग्या। अविर्दुरिं

मानपूर्वक छाती फुलाकर, अगुली फैलाकर दिखाता हुआ देवी की परिचारि काओं से] दासी की लडकियो ! मेरी सुन्दरता देखो।

रतिकला—[देखकर, अलग] सखी ! इसके पहले तुमने असत्यभाषि और दुष्टा कहकर मुझे डाँटा था। देखो, अब यह किसकी अगूठी है ?

देवी—[देखकर शका के साथ] निश्चय ही यह चन्द्रकला की है।

रतिकला—इसमें भी कोई शका है।

देवी—[लबी साँस लेकर] पुरुष सदा ही अविश्वसनीय है। सखी र

---

१ उत्स्वस्य मू० पा०।

पुरुषा । सखि रतिकले ! त्वरितमेह्यहि[1] । क्षणमपि एतस्यातिदुर्विलसितस्यान्तिके स्थातु न युज्यते । (अहो ! सव्वधा अविस्ससणीआ ज्जेव पुरुसा । हला रदिअले ! तुरिद एहि, एहि । खण वि एदस्स अदिदुव्विलसिदस्स अन्तिए ट्ठादु ण जुज्जदि ।)

[इति सत्वरमुत्थाय गच्छन्ती[2]]

राजा [ससम्भ्रममुत्थायोपसृत्य करे धृत्वा]

अभिज्ञा नैव त्व शशिमुखि विधातु मयि रुप
विना च त्वा काचिन्नहि मदनुरागस्य विषय ।
तथापि क्षामाङ्गि स्फुरदधरबिम्ब सपदि मा-
मनामन्त्र्यैव त्व व्रजसि कथमित्य कथय मे ॥१८॥

अतिदुर्विलसितस्य—उच्छृ खलस्य, अन्तिके—समीपे, स्थातु न युज्यते—अवस्थानमनुचितमित्यर्थः । उपसृत्य—समीप गत्वा ।

शशिमुखि—हे चन्द्रमुखि !, मयि, रुप—क्रोध, विधातु—कर्तुं, त्व, नैव, अभिज्ञा—ज्ञात्री च, त्वा, विना, काचित, मदनुरागस्य—मत्प्रेम्ण, विषय —इन्द्रियार्थ , नहि (वर्तते), तथापि, क्षामाङ्गि—हे कृशाङ्गि !, त्व, माम्, अनामन्त्र्यैव—अपृष्ट्वैव, सपदि—शीघ्र ,—स्फुरदधरबिम्ब—स्फुरत् अधरबिम्ब ओष्ठबिम्बो यस्मिन् तत् यथा स्यात् तथा,—कथम्, इत्थ, व्रजसि—गच्छसि ? मे—मह्य ,कथय—ब्रूहि । अत्र शिखरिणीच्छन्द ॥१८॥

पुरुष सदा ही अविश्वसनीय हैं । सखी रतिकला ! शीघ्र आओ, क्षण भर भी अब इस उच्छृ खल के पास बैठना उचित नहीं है ।

[कहकर शीघ्रता से उठकर जाने लगती है ।]

राजा—[हड़बड़ी से उठकर, पास जाकर रानी का हाथ पकड़कर]

हे चन्द्रमुखी ! तुम मुझ पर क्रोध करना तो जानती ही नहीं हो, और तुम्हारे बिना मेरे प्रेम का विषय (प्रेमपात्र) दूसरी कोई (स्त्री) है नहीं । तो भी हे तन्वगी ! बिना मुझसे विदा लिये अधरबिम्ब को फड़काती हुई तुम इस प्रकार तुरन्त क्यों जा रही हो ? मुझे बताओ ॥१८॥

१—अत्र 'त्वरितम्' मू॰ पा॰ नास्ति । २—गच्छन्ति मू॰ पा॰ ।

[इति राज्ञो हस्तमुत्क्षिप्य सत्वरं सपरिवारा निष्क्रान्ता]

विदूषकः—[राजानमुपसृत्य] भो वयस्य! किमिति देवी तवापि करं विक्षिप्य[1] इत्थं शीघ्रगत्या चलिता? (भो वअस्स ? किन्ति देवी तुह वि करं विक्खिविअ इत्थं सिग्घगदीए चलिदा ?)

राजा—त्वत्कृतेनैव।

विदूषकः—[सरोषम्] किम्मया कृतम्? (किम्मए किदं ?)

राजा—यतः परमकरणीयं नास्ति।

विदूषकः—अहो[2]! किं तत्? (अव्वो! किं तं ?)

राजा—इदमेव चन्द्रकलाङ्गुलीयकदर्शनम्।

विदूषकः—[दन्तैर्जिह्वामापीड्य] अपि तावत्, कथं ता दासी-दुहितरः प्रेक्ष्य इत्थमुपगतो मां चित्तसमोहः! तदिदानीम्, एतु एतु-

उत्क्षिप्य—दूरे कृत्वा, सत्वरं—शीघ्रं। विक्षिप्य—पृथक्कृत्य, चलिता—प्रस्थिता। अकरणीयम्—अकर्तव्यम्। आपीड्य—पीडयित्वा। प्रेक्ष्य—अवलोक्य। चित्तसमोहः—चित्तविह्वलता, उपगतः—प्राप्तः।

[देवी राजा के हाथों को दूर हटाकर शीघ्रता से परिचारिकाओं के सहित चली जाती है]

विदूषक—[राजा के पास पहुँचकर] हे मित्र! क्यों देवी तुम्हारे हाथ को भी हटाकर, इस प्रकार शीघ्रतापूर्वक चली गईं?

राजा—केवल तुम्हारे कृत्य के कारण?

विदूषक—[क्रोध के साथ] मैंने क्या किया?

राजा—जिससे बढ़कर अनुचित काम नहीं होता (वही तुमने किया है)।

विदूषक—ओह! वह क्या?

राजा—यही चन्द्रकला को अंगूठी का दिखा देना।

विदूषक—[दाँतों से जीभ दबाकर] खेद है, उन दासी-पुत्रियों को देखकर पता नहीं क्यों मेरा चित्त ही पागल-सा हो गया। अस्तु, प्रियमित्र! आओ

1 विनिक्षिप्य मू० पा०। 2 मात- मू० पा०।

एतु प्रियवयस्य । यथा देवी प्रसाद गच्छति[1], यथा च तव चन्द्र
पुन समागमो भवति तथाऽहमेव सम्पादयिष्यामि । (अभिदाः
ताओ दासीदुहिदाओ इत्यमुवगदो म चित्तसमोहो ! तादाणि
एदु पिअवअस्सो । जधा देवी प्पसाद गच्छदी, जधा अ तुह
अलाए पुणोवि समाअमो होदि, तधा अहज्जेव सपादइस्स ।)

राजा—तत्किमधुना विधेयम् ?

विदूषक —भो वयस्य ! तदिदानी पुरत देवीमेव प्रसादया
(भो बअस्स ! तादाणि पुरदो देवी ज्जेव पसादेम्ब ।)

[निष्क्रान्ता सर्वे]

इति द्वितीयोऽङ्कः

समागम —सम्मेलन, सम्पादयिष्यामि—निष्पन्न करिष्यामि । विधेय–कर्त
पुरत –प्रथम, प्रसादयाव —प्रसन्ना करिष्याव ।

मैं ही अब प्रसन्न करूँगा कि देवी प्रसन्न हो जायें और चन्द्रकला से तु
समागम भी हो ।

राजा—अब क्या करना चाहिए ?

विदूषक—मित्र ! सब से पहले देवी को प्रसन्न किया जाय ।

[सभी चले जाते हैं]

दूसरा अक समाप्त

---

१ प्रसाद गच्छन्ति मू० पा । २ अय मू० पा० नास्ति ।

तृतीयोऽङ्कः

[ततः प्रविशति विदूषकः]

विदूषकः—ही-ही भो ! अद्य खलु मया तथा वञ्चकत्वेन तथा कृतापराधेऽपि प्रियवयस्ये प्रसादं गमिता प्रकृतिसुकुमारहृदया देवी । तया एव इदानीं चन्द्रकला अविदितदोषायाः सुनन्दनायाः गृहे गोपितेति कथितं मे सुनन्दनया[1] । [विचिन्त्य] तदिदानीं विरहावस्थाव्याकुलीकृतस्य प्रियवयस्यस्य एतया सङ्गमे महाक्लेशो लघूकृतो देव्या[2] । अपि च मन्त्रितं च मया सह सुनन्दनया अद्य निशायां चन्द्रकला प्रच्छन्नरूपा केलिवनमध्ये[3] प्रवेश्य प्रियवयस्येन समम् अस्याः सङ्गमो विधीयते[4] ।

वञ्चकत्वेन—प्रतारकत्वेन कृतापराधेऽपि—कृतः अपराधः येन तादृशेऽपि, प्रसादः—प्रसन्नता, गमिता—प्रापिता, प्रकृतिसुकुमारहृदया—प्रकृत्या स्वभावेन सुकुमारं कोमलं हृदयं यस्याः तादृशी । अविदितदोषायाः—अविदितः अज्ञातः दोषः अपराधो यस्याः तादृश्याः, गोपिता—रक्षिता । विरहावस्थाव्याकुलीकृतस्य—वियोगावस्थया दुःखाकृतस्य, महाक्लेशः—महत्कष्टं लघूकृतः—अल्पीकृतः । मन्त्रितम्—परामर्शः कृतः निशायां—रात्रौ प्रच्छन्नरूपा—गोपिताकृतिः, केलिवनमध्ये—क्रीडोपवने इति यावत्, प्रियवयस्येन—प्रियमित्रेण, समं—साकं, सङ्गमः—समागमः विधीयते—क्रियते ।

[इसके बाद विदूषक प्रवेश करता है]

विदूषक—अहाहा ! आज मेरी चतुरता से, वैसा अपराध करने पर भी मेरे मित्र से स्वभावतः कोमल हृदय वाली महारानी प्रसन्न हो गई । मुझे सुनन्दना से मालूम हुआ है कि चन्द्रकला उसी के घर में छिपायी गई है और उसका यह अपराध महारानी नहीं जानती है । [सोचकर] ऐसी स्थिति में तो अब उस चन्द्रकला के वियोग से व्याकुल मेरे मित्र की आकुलता को स्वयं महारानी ने ही अल्प कर दिया । तथा सुनन्दना के साथ मैंने मन्त्रणा भी की है कि आज

---

१ अयं दू० पा० नास्ति । २ देव्या मू० पा० । ३ केवल 'मध्ये' मू० पा० । ४ एषा सङ्गमयितव्या इति मू० पा० ।

तद्यदीदानीम् एन वृत्तान्तं - देवी न जानाति[1] तत्सफलो भविष्यति मे सकल.[2] प्रयासः। [विचिन्त्य] अपि तावत् एन वृत्तान्त रक्षता मया कियन्त काल जिह्वायन्त्रणा अनुभूयते। [पुरोऽवलोक्य] का एषा ? देवी परिवारिका माधविकेव दृश्यते। (ही—ही भो.! अज्ज क्खु मए तघा वंचअत्तेण तधा किदापराधेवि पिअवअस्से पसाद गमिदा पउदिसुउमारहिअआ देवी। ताएव दाणि चन्दअला अविदिददोसाए सुणन्दणाए[3] घरे गोविदत्ति कधिद मे सुणन्दणाए। [विचिन्त्य] तादाणि विरहावत्थावाउलीकिदस्स पिअवअस्सस्स एदाए सङ्गमे महकिलेसो लहूकिदो देवीए। अविअ मन्तिद अ मए सह सुणन्दणाएअज्ज णिसाए चन्दअला पच्छन्नरूवा केलि-विण[4] अन्तरे पविसिअ पिअवअस्सेण सम एसा सङ्गमा विदद्धन्ति। ताजदादाणि एद सुवुत्तन्त देवी ण जाणादि ता सभलो भविस्सदि मे सभलो पआसो। [विचिन्त्य] अविदाव एद वुत्तन्त रक्खन्तेण मए केन्तिक काल जीहाजत्तणा अणुभवीअदि[5]। [पुरोऽवलोक्य] का एसा ? देवी परिवारिआ माधविआविअ दीसदि।)

वृत्तान्त—समाचार, सकल—सम्पूर्ण, प्रयास—प्रयत्न। जिह्वायन्त्रणा—अकथनप्रयुक्त जिह्वाकष्टम्।

रात्रि के समय चन्द्रकला को गोपनीय ढग से केलिवन मे उपस्थित करके प्रियवयस्य का सगम उसके साथ करा दिया जाय। यदि यह समस्त वृत्तान्त महारानी न जान पाएँ तभी मेरा प्रयास सफल हो सकेगा। [सोचकर] मैं स्वय इस वृत्तान्त को गुप्त रखने के लिए कितने समय से अपनी जवान पर नियन्त्रण रखकर कष्ट का अनुभव कर रहा हूँ। [सामने देखकर] यह कौन है ? महारानी की परिचारिका माधविका प्रतीत हो रही है।

---

१ जाति मू० पा०। २ सेसल मू० पा०। ३ सणन्दणाए मू० पा०। ४ अय मू० पा० नास्ति। ५ अणुभवीअदु मू० पा०।

[ततः प्रविशति माधविका]

[विदूषकः विलोक्य करेण मुखमाच्छादयति[1]]

माधविका–[विलोक्य] मातः ! कुतः एष वृद्धब्राह्मणो मां प्रेक्ष्य पुनः पुनर्वदनम् आच्छादयति[2] ? तत् पृच्छामि । [इत्युपसृत्य] आर्य ! वन्दे । (अम्मो, कुदो एसो वुड्ढबम्भणो मं पेक्खिअ पुणो पुणो वदणं ढिक्कदि ? ता[3] पुच्छामि । [इत्युपसृत्य] अज्ज ! वन्दामि ।)

[विदूषकः पुनः करोति]

माधविका–आर्य ! किमेवं वदनम् आच्छाद्यते[4] ? (अज्ज[5] ! किमेवं वअण[6] ढिक्किअदि[7] ?)

[विदूषकः पुनस्तया करोति]

माधविका–[अञ्जलिं वद्ध्वा] प्रसीदतु मे आर्यः । न गोपयतु

करेण—हस्तेन, आच्छादयति—आवृणोति । प्रेक्ष्य—दृष्ट्वा, वदनम्—मुखम् । रहस्यं—गुप्तमेदं, न गोपयतु—न अन्तर्हितं करोतु । गर्भदास्या—

[तब माधविका प्रवेश करती है]

[विदूषक उसे देखकर अपने हाथों से मुँह ढक लेता है]

माधविका – [देखकर] अम्मा ! यह वृद्ध ब्राह्मण मुझे देखकर अपना मुँह क्यों बार-बार ढक रहा है ? अच्छा, मैं पूछती हूँ । [समीप पहुँचकर] आर्य ! प्रणाम ।

[विदूषक पुनः अपना मुँह ढकता है]

माधविका—आर्य ! इस प्रकार मुँह क्यों ढक रहे हैं ?

[विदूषक पुन उसी प्रकार ढकता है]

माधविका—[हाथ जोडकर] आर्य मुझ पर प्रसन्न हों । रहस्य न छिपाएँ ।

१ माछादयति मू० पा० । २ ढोकते मू० पा० । ३ अ मू० पा० । ४ ढोकते मू० पा० । ५ अज मू० पा० । ६ वणं मू० पा० । ७ ढिक्किअदि मू० पा० ।

रहस्यम्। (पसीददु मे[1] अज्जो। ण गोवयदु रहस्सम्।)

विदूषक—भवतु, तत् कोऽपि न जानातु। एवमिव। (भोदु, ता कोवि ण जाणादु। एव विअ।)

[इति कर्णे कथयति]

माधविका-[स्वगतम्] अहो, साहसो वृद्धब्राह्मणस्य! तथा पुनर्गर्भदास्या सुनन्दनया कथमेव दुष्करमाचक्ष्यते? तद्देवी निवेद्य प्रसाद लप्स्ये[2]। [प्रकाशम्] आर्य! गच्छामि[3]। स्वामिनी-नियोगम्[4] अनुचरितुम्। (अहो,साहासो वुद्धवम्भणस्स। ताए पुणगब्भदासीए सुणन्दणाए कध एव्व दुक्कर आचक्खिअदि। ता देवीअ णिवेदिअ पसाद लभिस्स। अज्ज! गच्छामि सामिणीणिओअ अणुचिदिदम्।)

विदूषक—अहमपि इदानी गच्छामि समीहित सम्पादयितुम्। (अहृपि दाणि गच्छामि समीहिद सम्पादिदुम्।)

जन्म१ दास्या, दुष्कर—कठिनकृत्यम्, आचक्ष्यते—कथ्यते। निवेद्य-विज्ञाप्य, प्रसादम्—अनुग्रह, लप्स्ये—प्राप्स्यामि। स्वामिनीनियोगम्—महाराज्ञ्या आदेशम्, अनुचरितुम्- पालयितुम्। समीहितम्-अभिलषित, सम्पादयितु—सम्पन्न कर्तुम्।

विदूषक—अच्छा, अन्य कोई न जाने। [कान म कहता है-ऐसा,ऐसा]

माधविका—[अपने मन मे] ओह! इस वृद्ध ब्राह्मण का ऐसा साहस। और फिर जन्म की दासी उस सुनन्दना न कैसे यह कठिन कार्य किया? तो मैं यह सब महादेवी को बताकर उनकी कृपा प्राप्त करूँ? [प्रकट रूप म] आर्य! मैं जाती हूँ। महारानी द्वारा निर्दिष्ट कार्य को पूर्ण करूँ।

---

१ से मू० पा०। २ लभिष्यामि मू० पा०। ३ गच्छामि मू० पा०। ४ स्वामिना नियाग मू० पा०।

[इति निष्क्रान्तौ]

प्रवेशकः

[ततः प्रविशति मदनावस्थां नाटयन् राजा]

राजा—[सनिर्वेदं दीर्घं निःश्वस्य]

आयान्तीमधिगत्य मत्परिसरं देवीं परित्यज्य मां
निर्गच्छन्त्यपि सम्भ्रमेण सुदती किञ्चित् परावृत्य सा ।
दृष्टिं यच्छति याप्युदश्रुकलुषामुत्थाय तावन्मया
तस्यास्तन्मुखमुन्नमय्य[1] सहसा किं नाम नो चुम्बितम् ॥१॥

, मत्परिसरं—मत्समीपं, आयान्तीम्—आगच्छन्तीम्, देवीं—राज्ञीम्, अधिगत्य—प्राप्य, मां, परित्यज्य—त्यक्त्वा, निर्गच्छन्ती अपि—निःसरन्ती अपि, सुदती—शोभनदन्ता, सा—चन्द्रकला, सम्भ्रमेण—सत्वरं, किञ्चित्—ईषत्, परावृत्य मदभिमुखी भूत्वा, उदश्रुकलुषा—नेत्रजलाविला, दृष्टिम्—ईक्षणं, यच्छति—ददाति, तावत्, मया, सहसा—झटिति, तस्याः—चन्द्रकलायाः, तन्मुखम्, उन्नमय्य—उत्थाप्य, किं, नाम, नो—नहि, चुम्बितम्—अचुम्बि ? अत्र शार्दूलविक्रीडितं छन्दः ॥१॥

[दोनों चले जाते हैं]

प्रवेशक समाप्त

[काम-पीडित अवस्था में राजा का प्रवेश]

राजा—[खेदपूर्ण लंबी साँस लेकर]

जब वह (चन्द्रकला) यह जानकर कि महारानी मेरी ओर आ रही हैं, शीघ्रतापूर्वक जाने लगी और सुन्दर दन्तपंक्तियों वाले अपने मुख को घुमाकर हृदयडी में उसने मुख पर दृष्टि-पात किया, उस समय उसका वह मुख अश्रुओं से कलुषित हो उठा था। उसी समय उसके मुख को उठाकर मैंने चुम्बन क्यों नहीं कर लिया ? ॥१॥

१ उन्नमय्य मू० पा० ।

[स्मरणमभिनीय]

श्रयति मयि समीपं स्मेरवक्त्रारविन्द
स्फुरदधरपुटान्त दर्शितभ्रूविभेदम् ।
अलसवलिततारं किञ्चिदाकुञ्चिताक्ष
कवलयति मनो मे पक्ष्मलाक्ष्याः कटाक्षः ॥२॥

तत्पुनरवलोकयामि समदनवेदनान्धकारशमनीं[1] प्रियतमामिमां चन्द्रकलाम् । [विचिन्त्य]

मयि समीपं—निकट, श्रयति सेवमाने (सति) स्मेरवक्त्रारविन्द—मन्दहास्ययुक्त मुखकमल यस्मिन् तत् (यथा स्यात् तथा), स्फुरदधरपुटान्त—स्फुरन् कम्पमानः अधरपुटान्त ओष्ठप्रान्तो यस्मिन् तत्, दर्शितभ्रूविभेदम्—दर्शित. प्रकटित. भ्रूविभेदः भ्रूभङ्गो यस्मिन् तत् अलसवलिततारम् अलसः आलस्ययुक्त. वलितः वलियुक्तश्च तारः अक्ष्णः कनीनिका यस्मिन् तत्, किञ्चिदाकुञ्चिताक्षं–किञ्चत् ईषत् आकुञ्चितं कुटिलम् अक्षि नेत्र यस्मिन् तत्, पक्ष्मलाक्ष्या.—पक्ष्मल सुन्दरपक्ष्मयुक्तम् अक्षि यस्या तथाभूतायाः सुनयनाया इत्यर्थः, कटाक्ष.—अपाङ्गदर्शन, मे, मन.—चित्त,कवलयति—ग्रासीकरोति । अत्र मालिनीच्छन्दः ॥२॥

समदनवेदनान्धकारशमनीम्—मदनेन कन्दर्पेण सहिता या वेदना पीडा सैव अन्धकारः तम तस्य शमनी शमयित्रीम् ।

[स्मरण-सा करता हुआ]

बड़ी-बड़ी भौंहों वाली आँखों के कटाक्ष से वह मेरे हृदय को हर लेती है; मन्दहास से पूर्ण अपने कमलानन को मेरी ओर किये हुई है, उसके ओष्ठ हिल रहे हैं; भौंहें सिकुड़ी हुई और आँखें कुछ मद मुँदी-सी तथा चमकीली हैं । ॥२॥

तो मैं पुन. मदन-जनित वेदना रूपी अन्धकार को दूर करने वाली अपनी प्रियतमा चन्द्रकला को देख रहा हूँ । [सोचकर]

---

१ शमनं मू० पा० ।

तदिहैव तावत्—विकसितकुसुमभरशीतलामोदमेदस्विनि निरन्तरनवपल्लवप्रताननिवारिततरणिकिरणप्रवेशे रसालतरुतले नीलमणिशिलामध्यासीनो निर्वापयामि प्रेयसीविरहसन्तप्तमात्मानम्। [इति परिक्रम्योपविश्य] अये कथमसौ सहकारः समन्ततः सफुल्लकुसुमपरागैः[1] प्रेयसीविरहविधुरं मामत्यन्तमुद्वेजयति [विचिन्त्य] एष खलु मयैव चिरपालितो न लङ्घयिष्यति मे वचनम्। तदेनमेव सदैन्यं निवेदयामि।

विकसितकुसुमभरशीतलामोदमेदस्विनि—मञ्जरीसमूहानां शीतलसौरभेण स्थूले, निरन्तरनवपल्लवप्रताननिवारिततरणिकिरणप्रवेशे—निरन्तरं सततं नवपल्लवानां नवकिसलयानां प्रतानेन विस्तारेण निवारितः अवरुद्धः तरणिकिरणप्रवेशः सूर्यकिरणप्रवेशः यत्र तादृशे, रसालतरुतले—आम्रवृक्षस्य अधः, नीलमणिशिलामध्यासीनः—नीलमणेः शिलाखण्डोपरि उपविशन्, प्रेयसीविरहसन्तप्तम्—प्रियतमावियोगेन दग्धम्, आत्मानं, निर्वापयामि—शमयामि। सहकारः—आम्रः, समन्ततः—सर्वतः, सफुल्लकुसुमपरागैः—विकसितपुष्परजोभिः, प्रेयसीविरहविधुरं—प्रेयस्याः प्रियतमायाः विरहेण वियोगेन विधुरं व्याकुलं माम् अत्यन्तम्—अत्यधिकम्, उद्वेजयति—व्याकुलीकरोति। एषः—आम्रः, चिरपालितः—बहोः कालात् संरक्षितः, मे वचनं न लङ्घयिष्यति—मम आज्ञाभङ्गं न करिष्यति। सदैन्यं—दीनतासहितं यथा स्यात् तथा, निवेदयामि प्रार्थये।

तो मैं अब इसी आम्रवृक्ष के तले जहाँ निरंतर नये पल्लवों के विस्तार के कारण सूर्य की किरणें नहीं पहुँचती और जो खिले हुए पुष्पों की शीतल सुगंध से परिपुष्ट है, नीलम की शिला पर बैठकर प्रियतमा के वियोग से संतप्त अपने को शांति प्रदान करूँ। [ऐसा कहता हुआ बैठकर] आह! यह रसाल क्या मुझ प्रिया विरह से पीड़ित को, चारों ओर फूले हुए पुष्पों के पराग से अत्यन्त व्याकुल कर रहा है? [सोचकर] यह तो मेरा ही चिर काल से पाला-पोसा हुआ वृक्ष है। इस कारण निश्चय ही मेरे वचनों को नहीं टालेगा। अतएव इसी से विनम्र निवेदन करता हूँ।

[1] कुसुमपरागैः मू० पा०।

[साञ्जलिबद्धम्]

हं हो चूतमहीरुह त्वमिह नः स्नेहेन वृद्धिं गत-
स्तत्किं मामभिवर्षसि प्रति मुहुर्धूलिच्छलान्मुर्मुरैः[1] ।

[विभाव्य]

कथमित्थं प्रार्थ्यमानोऽपि आचरसि मयि तथैव परिपन्थित्वम् ?

[स्मरणमभिनीय]

आ ज्ञातं कुसुमान्यमूनि विशिखान्निर्माय पञ्चायुध
पञ्चत्वं जगतीं नयत्यविरतं तेनावलेपस्तव ॥३॥

हं हो चूतमहीरुह—हे आम्रवृक्ष ! त्वम्, इह— अत्र, नः—अस्माकं, स्नेहेन—प्रेम्णा, वृद्धिं गतः—र्वाधतः, तत्—तस्मात्, किं—कथम्, माम् प्रति, मुहुः—बार-बार, धूलिच्छलात्—परागव्याजात्, मुर्मुरैः—तुषाग्निभिः, अभिवर्षसि—वृष्टिं करोषि ? विभाव्य—विचार्य, प्रार्थ्यमानोऽपि—निवेद्यमानोऽपि, परिपन्थित्वं—शत्रुताम्, आ ज्ञातम्—अहह अवगतम्, पञ्चायुधः—कामः, अमूनि, कुसुमानि—पुष्पाणि, विशिखान्—बाणान्, निर्माय—रचयित्वा, अविरतं—नित्यं, जगतीं—संसारं, पञ्चत्वं नयति—विनाशयति, तेन, तव अवलेपः—गर्वः (जातः) । अत्र शार्दूलविक्रीडितं छन्दः ॥३॥

[हाथ जोड़कर]

हे आम्रवृक्ष ! तुम तो हमारे ही स्नेह से पले-पोसे और बढ़े हुए हो, तो फिर क्यों यह बार-बार मेरे ही ऊपर पुष्प धूलि के बहाने तुषाग्नि बरसा रहे हो ?

[सोचकर]

क्यों निवेदन करने पर भी तुम वैसा ही शत्रुतापूर्ण व्यवहार करते आ रहे हो ?

[स्मरण सा करता हुआ]

अच्छा, समझ गया । तुम्हारे इन फूलों को कामदेव अपना (पञ्च) बाण बनाकर संसार का नित्य विनाश करता है, इसी से तुम्हें गर्व हो गया है ।।३।।

---

१ मुहुर्धूलिच्छलान्मुर्मुरैः मू० पा० ।

तदलमिदानीमचेतने भवत्यत्यन्तं कृपणताप्रकाशनेन। पञ्चायुधमेव तावत्प्रार्थये[1] यत्प्रसादात्तवायमीदृशो गर्वः। [आकाशलक्ष्यमञ्जलिं बद्ध्वा[2]]

किं कन्दर्प मुखं विधाय मधुपैः पक्षं नवैः पल्लवै-
रेभिश्चूतशरैः करोषि जगती[3] जेतुं प्रयासं मुधा।
निद्रातुं शयितुं प्रयातुमथवा स्थातुं क्षमः को भवे-
देकोऽसौ कलकण्ठकण्ठकुहरे जागर्ति[4] चेत्पञ्चमः ॥४॥

अचेतने—जडे, भवति—त्वयि, कृपणताप्रकाशनेन—कार्पण्यप्रकटनेन, अलं—व्यर्थम्। पञ्चायुधं—कामम्, प्रार्थये—विनिवेदयामि, यत्प्रसादात्—यस्य कृपातः, गर्वः—अभिमानः। आकाशलक्ष्यम्—आकाशं प्रति दृष्टिं कृत्वेत्यर्थः।

कन्दर्प—हे कामदेव !, मधुपैः—भ्रमरैः, मुखम्—आननं, नवैः—नूतनैः, पल्लवैः—किसलयैः, पक्षं—गरुतं, विधाय—कृत्वा, एभिः, चूतशरैः—आम्रबाणैः, जगती—जगत्, जेतुं—वशीकर्तुं, प्रयासं—प्रयत्नं, मुधा—व्यर्थं, करोषि—विदधासि, (यतो हि) चेत्—यदि, कलकण्ठकण्ठकुहरे—कोकिलकण्ठविवरे, एकः—एकाकी, असौ—अयं, पञ्चमः—पञ्चमस्वरः, जागर्ति—गुञ्जितो भवति, (तर्हि) कः, निद्रातुं—निद्रावस्थायां स्थातुं, शयितुं—स्वपितुं शयनोपक्रमं कर्तुमिति यावत्, प्रयातुं—प्रस्यातुम्, अथवा—आहोस्वित्, स्थातुं, क्षमः—समर्थः, भवेत् ? अत्र शार्दूलविक्रीडितं छन्दः ॥४॥

इसलिए तुम जड के सामने अपनी पीडा का निवेदन करना व्यर्थ है। सच मे तो मुझे उसी पञ्चायुध से प्रार्थना करनी चाहिए, जिसकी कृपा से तुमको ऐसा गर्व हुआ है। [आकाश को लक्ष्य करके हाथ जोड़कर]

हे कामदेव ! तुम भौरो का मुंह और नव पल्लवो का पंख बनाकर आम्रमजरी रूपी बाणो द्वारा ससार को जीतने का व्यर्थ प्रयास कर रहे हो ? सोचो तो यदि इस कोयल के कण्ठ मे पचम स्वर गूँजा तो इस संसार मे भला कौन ऊँघने, सोने, चलने अथवा रुकने मे समर्थ हो सकेगा ? ॥४॥

१ अत्र 'ा' मू० पा० अयुक्तः। २ बध्वा मू० पा०। ३ जगति मू० पा०। ४ जागत्ति मू० पा०।

[विचिन्त्य] अये, कथं त्वमपि नामैव प्रार्थ्यमानोऽपि निशितशरनिपातेन कृन्तसि मे हृदयम् ? शृणु तावत्—

शरस्ते दुर्वारः स्मरपुरहरस्यान्तभिदुरः
फलं किं नामासावधिकमधिगन्तुं तुदति माम् ।
[विचिन्त्य]
अलं वा दैन्येन त्वयि यदखिलस्यापि जगतो
मनो मथ्नासीति प्रथितिरिह ते मन्मथ इति ।।५।।

[विचिन्त्य] कथं मयापि दुरवसनार्थप्रार्थनेनात्मा सन्ताप-

निशितशरनिपातेन—तीक्ष्णबाणप्रहारेण, कृन्तसि—छिनत्सि ?

स्मर—हे कन्दर्प !, पुरहरस्य—त्रिपुरारेः शिवस्य, अन्तभिदुरः—हृदये वज्र इव, ते—तव, शरः—बाणः, दुर्वारः—दुःखेन वारयितुं योग्यः—(तर्हि) असौ—शरः किं नाम, अधिकं, फलम, अधिगन्तुं—प्राप्तुम्, माम्, तुदति—व्यथयति ? वा—अथवा, त्वयि, दैन्येन—कातर्येण, अलं—व्यर्थम, यत्—यस्मात् अखिलस्यापि—सम्पूर्णस्यापि, जगतः—संसारस्य, मनः—चित्तं, मथ्नासि—विलोडयसि, इति (हेतोः), इह—लोके, ते, मन्मथः, इति प्रथितिः—प्रसिद्धिः (वर्तते) । अत्र शिखरिणीच्छन्दः ।।५।।

दुरवसनार्थप्रार्थनेन—दुर्लभवस्तुयाचनेन, सन्तापनीयः—खेदनीयः । सन्त—

[सोचकर] ओह ! क्यों कामदेव ! तुम भी मेरी प्रार्थना सुनकर भी अपने तेज बाणों से मेरे हृदय को बेध रहे हो ? अच्छा तो सुनो—

हे कामदेव ! शंकर के भी हृदय को वज्र के समान लगने वाले तुम्हारे बाण दुर्निवार हैं, फिर मेरे हृदय को इस प्रकार बेधकर कौन-सा बड़ा लाभ उठाना चाहते हो ?

[सोचकर]

अथवा तुमसे दीनता का निवेदन करना व्यर्थ है, क्योंकि संसार के मन को मथने के कारण तुम मन्मथ नाम से प्रसिद्ध हो चुके हो ।।५।।

[सोचकर] मैं क्यों व्यर्थ, दुर्लभ वस्तु के लिए प्रार्थना कर-करके आत्मा को कष्ट पहुँचाऊँ ?

नीय ! तथाहि । सन्तोऽस्यन्तु[1] पराङ्मुखा । [सोत्कण्ठम्] सुमुखि ! मा किं नाम नो भाषसे ? [पुनर्विचिन्त्य] आः, कथं नाम लोकेषु विवेकितया[2] प्रथितिमासादयताऽपि मया निष्फलप्रयासोऽयमनुभूयते । [विचिन्त्य] तथाहि । मूढानां वितथप्रयासपरता । [सदैन्यम्] मा मुञ्च वामाक्षि ! माम् [पुनर्विचिन्त्य] अलम कारणमनारतं देवीप्रकोपभीतिकातरस्य ममैवमारम्भः । तथाह्येव सति देवी कुप्यति । [सोद्वेगम्] किं प्रपृच्छसि[3] परिरम्भं न रम्भोरु मे । [पुनर्विचिन्त्य । सधैर्यावष्टम्भम्] चेतः ! प्रार्थयसे

सज्जना, पराङ्मुखा —विमुखा, अस्यन्तु—क्षिपन्तु । सोत्कण्ठम्—उत्कण्ठया औत्सुक्येन सहितम् । सुमुखि—सुन्दरि !, भाषसे—वदसि । लोकेषु—जनेषु, विवेकितया—विवेकशीलतया, प्रथितिं–प्रसिद्धिम्, आसादयता—प्राप्नुवता । मूढानां—मूर्खाणाम्, वितथप्रयासपरता—व्यर्थप्रयासपरायणत्वम् । वामाक्षि—सुनयने !, मा मुञ्च—न त्यज । अनारतं—सततं देवीप्रकोपभीतिकातरस्य—देव्याः प्रकोपात् क्रोधात् भीतिः भयं तेन कातरः भीरुः तस्य । परिरम्भम्—आलिङ्गनम्, रम्भोरु—रम्भा कदलीस्तम्भ इव ऊरू यस्याः तादृशि ! । सधैर्यावष्टम्भम्—धैर्यधारणपूर्वकम् ।

क्योंकि सज्जन लोग विमुख होते जा रहे हैं । [उत्सुकता के साथ] सुन्दर मुख वाली ! तुम मुझसे भाषण क्यों नहीं करती हो ? [पुनः सोचकर] ओह ! तीनों लोकों में विवेकी रूप से प्रसिद्ध मुझे भी अपने प्रयास में निष्फलता का क्यों अनुभव हो रहा है ? [सोचकर] क्योंकि व्यर्थ प्रयास करना तो मूर्खों का धर्म है । [दीनता के साथ] हे सुनयने ! मुझे त्यागो मत । [फिर सोचकर] निष्कारण सतत देवी के प्रकोप के डर से भीरु बने हुए मेरा इस प्रकार का प्रयत्न करना व्यर्थ है क्योंकि ऐसा होने से देवी क्रुद्ध होगी । [आकुलतापूर्वक] हे कदली के स्तम्भ के समान जंघों वाली ! क्या तुम मेरा आलिंगन नहीं चाहती हो ? [फिर सोचकर, धैर्य के साथ] हृदय ! क्या किसी अन्य-सुलभ वस्तु के लि

१ सन्तोऽस्यतु मू० पा० । २ विवेकतया मू० पा० । ३ पृच्छसि मू० पा०

किमन्यसुलभम् । [सौत्सुक्योद्वेगम् । सवाष्पगद्गदम्] हा क्वासि मे प्रेयसि[1] !

किं वामाक्षि कटाक्षमाचरयसि प्रेम्णा मयि प्रेयसि

[विभाव्य सविषादम्]

स्मेरेन्दीवरगर्भत कुत इय निर्याति भृङ्गावलि ।

[कोकिलध्वनिमनुभय सवितर्कम्]

सौत्सुक्योद्वेगम्—उत्कण्ठाव्याकुलतासहितम्, सवाष्पगद्गदम्—अश्रुणा अवरुद्धकण्ठेन । प्रेयसि–प्रियतमे !, क्वासि–कुत्रासि ?

वामाक्षि–सुनयने ! प्रेयसि प्रियतमे ! किं, मयि, प्रेम्णा, कटाक्षम्, आचरयसि—करोषि ?, विभाव्य–विचार्य, सविषाद–सखेद, स्मेरेन्दीवरगर्भत —विकसितनीलकमलान्तर्भागात्, इय, भृङ्गावलि –भ्रमरपङ्क्ति, कुत —कस्मात्, निर्याति—निर्गच्छति ?, कोकिलध्वनि—कोकिलालापम्, अनुभूय, सवितर्कं —वितर्केण ऊहापोहेन सहितम्,

प्रार्थना कर रहे हो ? [उत्सुकता एव उद्वेग के साथ आँसू से अवरुद्ध कठ से] हा प्रियतमे ! तुम कहाँ हो ?

हे सुन्दर नयनों वाली ! क्या तुम प्रेम पूर्वक नेत्रो से मेरी ओर कटाक्ष करती हो ? [सोचकर, दु ख से] नीलकमल के कोष से यह भौंरो का समूह किधर से आ रहा है ? [कोकिल-ध्वनि का अनुभव करके सदेह के साथ]

[1]ऊपर के गद्यो से कुछ पक्तियो को छाँट लेने पर यहाँ एक श्लोक बन जाता है —

[सत्योऽयन्तु पराङ्मुखा सुमुखि मा किं नाम नो भाषसे

मूढानां वितथप्रयासपरता मा मुग्ध वामाक्षि माध् ।

देवी कुप्यति किं प्रपृच्छसि परीरम्भ न रम्भोरु मे

चेत. प्रार्थयसे किमन्यसुलभ हा क्वासि मे प्रेयसि ॥६॥]

किं किं व्यवस्यति कुतोऽस्ति[1] च कीदृशी सा[2] ॥९॥

[निःश्वस्य] हा निर्दय, जानामी युक्तवानपि अकथितप्रिया-वृत्तान्तं कथं व्रजसि परिहाय मामशरणम् । [सरोषम्] अये, कथं नाम केतककण्टकावलिग्रथितविग्रहो न मरणमधिगच्छसि पाप ! [कोकिलध्वनिमनुभूय निपुणं विभाव्य] अये, सत्यमिदानीम् ।

कुहूमाकारयत्येष कुहूकण्ठो मुहुर्मुहुः ।
तत्कथं परिदृश्येत प्रिया चन्द्रकला मम ॥१०॥

मे मह्यं कथय—ब्रूहि, (मम प्रियतमा) किं किं व्यवस्यति—चेष्टते करातीत्यर्थः, कुतः—कुत्र, च, अस्ति, कीदृशी, च, सा (इति) । अत्र वसन्ततिलकच्छन्दः ॥९॥

निर्दय–निष्ठुर, अकथितप्रियावृत्तान्त—न कथितः नोक्तः प्रियायाः चन्द्र-कलायाः वृत्तान्तः उदन्तः येन तादृश, परिहाय—त्यक्त्वा, अशरणम्—नि:-सहायम् । केतककण्टकावलिग्रथितविग्रहः—केतककण्टकावलिभिः केतकीकण्टक-स है ग्रथितः विग्रहः शरीरं यस्य तादृशः, अधिगच्छति—प्राप्नोति ।

एष, कुहूकण्ठः—कोकिल, मुहुर्मुहुः—वारंवार, कुहूम्—कुः इति मधुरास्फुटशब्दम्, आकारयति—उच्चारयति, ततः—तस्मात्, मम, प्रिया, चन्द्रकला, कथं—केन प्रकारेण, परिदृश्येत—अवलोक्येत ॥१०॥

हो ? तो शीघ्र बताओ कि वह क्या करना चाहती है, और कैसी दशा में है ? ॥९॥

[आह भरकर] हा निर्दय! 'मैं जानता हूँ' ऐसा कहकर भी बिना प्रिया का वृत्तान्त बताये ही मुझ असहाय को छोड़कर कैसे जा रहे हो ? [क्रोध के साथ] अरे! केतकी के काँटों से विद्धशरीर होकर यह पापी मर क्यों नहीं जाता ! [कोयल की ध्वनि का अनुभव करके भली भाँति सोचकर] अरे! सचमुच इस समय—

यह कोकिल बार-बार 'कुहू कुहू' कर रहा है। इसलिए मेरी प्रिया चन्द्र-कला कैसे दिखाई देगी ? ॥१०॥

---

१ कुतोऽस्य मू० पा० । २ कीदृशीयम् मू० पा० ।

तदेनमेवानुनीय निवारयामि।

[इति कोकिलमुपसृत्य सविस्मयम्]

विश्राम्यतु कुहूकण्ठ कुहूरिति तव ध्वनिः।
यत्तया नैति साम्मुख्यं प्रिया चन्द्रकला मम ॥११॥

[सरोषम्] आः, कथं प्रार्थ्यमानोऽपि तथैव व्याहरसि? [विचिन्त्य] भवतु। परव्यसनसन्तृप्तं न पुनरेनं मलिनात्मानं प्रार्थयिष्ये। तदितोऽन्यतो गत्वापि प्रियतमामन्वेषयामि। [कतिचित्पदानि गत्वा मलयानिलस्पर्शमनुभूय सोद्वेगम्] अहो, किमिदानीं दरदलितकेतकपरिमलमिलदविरलभ्रमरझङ्कारमुखरिताशामुखश्चन्दनानिलोऽपि मामुत्तापयति। भवतु, तदेनमेवमनुनयामि।

कुहूकण्ठ—हे कोकिल! तव—ते, कुहू, इति ध्वनिः—शब्दः, विश्राम्यतु—विरमतु, यत्—यस्मात्, तया कृत्वा, प्रिया, चन्द्रकला, मम—मे, साम्मुख्यं—समक्षं, नैति—नागच्छति ॥११॥

प्रार्थ्यमानोऽपि—अभ्यर्थ्यमानोऽपि, व्याहरसि—निगदसि। परव्यसनसन्तृप्तम्—अन्यस्य विपदा सन्तुष्टम्, मलिनात्मानं—दूषितान्तःकरणम्, दरदलितकेतकपरिमलमिलदविरलभ्रमरझङ्कारमुखरिताशामुखः—दरदलितस्य किञ्चिन्मर्दितस्य केतकस्य परिमलेन सुवासेन मिलन्तः सगच्छन्तः अविरलाः सघनाः भ्रमराः तेषां झङ्कारेण मुखरितं नादितम् आशामुखं दिङ्मुखं येन तादृशः, चन्दनानिलः—मलयमारुतः।

इसलिए इसीको मनाकर रोक देता हूँ।

[यह देखकर कोकिल के पास जाकर आश्चर्य के साथ]

हे कोकिल! तुम कूकना बन्द करो; क्योंकि इस कारण मेरी प्रिया चन्द्रकला (मेरे) सामने नहीं आ रही है ॥११॥

[क्रोध के साथ] आह! प्रार्थना करने पर भी क्यों ऐसा बोल रहे हो? [सोचकर] अच्छा, पर-सन्ताप से सन्तुष्ट होने वाले इस मलिनात्मा से अब फिर प्रार्थना नहीं करूँगा। यहाँ से चलकर प्रियतमा को अन्यत्र ढूँढूँ। [कुछ कदम चलकर मलयानिल के स्पर्श का अनुभव करके उद्वेगपूर्वक] क्या, पुष्पित केतकी के पराग से मोहित भौंरों के गुंजन स्वर से दिशाओं को मुखरित

किं किं व्यवस्यति कुतोऽस्ति[1] च कीदृशी सा[2] ॥९॥

[निःश्वस्य] हा निर्दय, जानामी-युक्तानपि अकथितप्रियावृत्तान्त कथं व्रजसि परिहाय मामशरणम्। [सरोषम्] अये, कथं नाम केतककण्टकावलिग्रथितविग्रहो न मरणमधिगच्छति पापः।

[कोकिलध्वनिमनुभूय निपुणं विभाव्य] अये, सत्यमिदानीम्।

कुहूमाकारयत्येष कुहूकण्ठो मुहुर्मुहुः।
तत्कथं परिदृश्येत प्रिया चन्द्रकला मम ॥१०॥

मे मह्यं कथय—ब्रूहि, (मम प्रियतमा) किं किं व्यवस्यति—चेष्टां करोतीत्यर्थः, कुतः—कुत्र, च, अस्ति, कीदृशी, च, सा (इति)। अत्र वसन्ततिलकच्छन्दः ॥९॥

निर्दय—निष्ठुर, अकथितप्रियावृत्तान्त—न कथितः नोक्तः प्रियायाः चन्द्रकलायाः वृत्तान्तः उदन्तः येन तादृशः, परिहाय—त्यक्त्वा, अशरणम्—निःसहायम्। केतककण्टकावलिग्रथितविग्रहः—केतककण्टकावलिभिः केतकीकण्टकैः ग्रथितः विग्रहः शरीरं यस्य तादृशः, अधिगच्छति—प्राप्नोति।

एषः, कुहूकण्ठः—कोकिलः, मुहुर्मुहुः—वारंवारं, कुहूम्—कुहूः इति मधुरास्फुटशब्दम्, आकारयति—उच्चारयति, तत्—तस्मात्, मम, प्रिया, चन्द्रकला, कथं—केन प्रकारेण, परिदृश्येत—अवलोक्येत ॥१०॥

हो ? तो शीघ्र बताओ कि वह क्या करना चाहती है, और कैसी दशा में है ? ॥९॥

तदेनमेवानुनीय निवारयामि ।

[इति कोकिलमुपसृत्य सविस्मयम्]

विश्राम्यतु कुहूकण्ठ कुहूरिति तव ध्वनिः ।
यत्तया नैति साम्मुख्य प्रिया चन्द्रकला मम ॥११॥

[सरोषम्] आः, कथ प्रार्थ्यमानोऽपि तथैव व्याहरसि ? [विचिन्त्य] भवतु । परव्यसनसन्तृप्त न पुनरेन मलिनात्मानं प्रार्थयिष्ये । तदितोऽन्यतो गत्वापि प्रियतमामन्वेषयामि । [कतिचित्पदानि गत्वा मलयानिलस्पर्शमनुभूय सोद्वेगम्] अहो, किमिदानी दरदलितकेतकपरिमलमिलदविरलभ्रमरझङ्कारमुखरिताशामुखश्चन्दनानिलोऽपि मामुत्तापयति । भवतु, तदेनमेवमनुनयामि ।

कुहूकण्ठ—हे कोकिल ! तव—ते, कुहू, इति ध्वनिः-शब्दः, विश्राम्यतु—विरमतु, यत्—यस्मात्, तया-कृत्वा, प्रिया, चन्द्रकला, मम-मे, साम्मुख्य-समक्ष, नैति-नागच्छति ॥११॥

प्रार्थ्यमानोऽपि—अभ्यर्थ्यमानोऽपि, व्याहरसि—निगदसि । परव्यसनसन्तृप्तम्—अन्यस्य विपदा सन्तुष्टम्, मलिनात्मान—दूषितान्तःकरणम्, दरदलितकेतकपरिमलमिलदविरलभ्रमरझङ्कारमुखरिताशामुखः—दरदलितस्य किञ्चिन्मर्दितस्य केतकस्य परिमलेन सुवासेन मिलन्तः समच्छन्त अविरलाः सघनाः भ्रमराः तेषां झङ्कारेण मुखरितं नादितम् आशामुखं दिङ्मुखं येन तादृशः, चन्दनानिल—मलयमारुतः ।

इसलिए इसीको मनाकर रोक देता हूँ ।

[यह देखकर कोकिल के पास जाकर आश्चर्य के साथ]

हे कोकिल ! तुम कूकना बन्द करो; क्योंकि इस कारण मेरी प्रिया चन्द्रकला (मेरे) सामने नही आ रही है ॥११॥

[क्रोध के साथ] आह! प्रार्थना करने पर भी क्यों ऐसा बोल रहे हो ? [सोचकर] अच्छा, पर-सन्ताप से सन्तुष्ट होने वाले इस मलिनात्मा से अब फिर प्रार्थना नही करूँगा । यहाँ से चलकर प्रियतमा को अन्यत्र ढूँढूँ । [कुछ कदम चलकर मलयानिल के स्पर्श का अनुभव करके उद्वेगपूर्वक] क्या, पुष्पित केतकी के पराग से मोहित भौंरों के गुंजन स्वर से दिशाओं को मुखरित

किं नाम्ना[1] विदधासि सुन्दरि !

[निरूप्य] कथ क्रीडापिकीनि स्वन ?

[पुनरन्यतो विलोक्य सहर्षम्]

जित मया । किं प्राप्तासि कृशोदरि !

[सनैराश्यम्[2] । दीर्घं नि श्वस्य]

आ , कथ मम भाग्यविपर्ययेण स्तवकिनीवल्लीयमुत्पल्लवा[3] ॥७॥

[इति मूर्च्छित[4] पतति]

[समाश्वस्योत्थाय दिशोऽवलोक्य उच्चैं कारम्] ननु भो क्रीडावनविहारिण ! तरुमृगविहङ्गमा ! जानन्ति भवन्त कुतो मे

विदधासि—नामोच्चारण करोषि ? निरूप्य—वीक्ष्य, कथ, क्रीडापिकीनि स्वन —क्रीडाकोकिलशब्द ?, कृशोदरि—क्षीणमध्यमे ?, किं, प्राप्तासि—लब्धासि ?, भाग्यविपर्ययेण—भाग्यदोषेण, इय, स्तवकिनी–गुच्छावती वल्ली—लता, उत्पल्लवा—नवकिशलया (जाता) ? अत्र शार्दूलविक्रीडितं छन्द ॥७॥

समाश्वस्य—सान्त्वना प्राप्य, उच्चैं कारम —उच्चै कृत्वा, क्रीडावनविहारिण —क्रीडोद्यानविहरणशीला !, तरुमृगविहङ्गमा —वृक्षपशुपक्षिण !,

---

सुन्दरी ! क्या नाम से (कर पुकार) रही हो ? [देखकर] क्या यह पालतू कोयल का शब्द है ? [पुन दूसरी ओर देखकर हर्ष के साथ] मैंने जीत लिया । हे पतली कमर वाली ! क्या तुम मिल गई हो ? [निराश होकर लम्बी साँस खींचता हुआ] आह ! मेरे दुर्भाग्य से, यह क्या पल्लवों वाली पुष्प लता सामने फूली हुई है ? ॥७॥

[मूर्च्छित होकर गिर पड़ता है]

[आश्वस्त होकर उठकर दिशा की ओर देखता हुआ ज़ोर से] हे क्रीडोद्यान में विहार करने वाले ! वृक्ष, पशु तथा पक्षियो ! आपलोग जानते

---

१ नाम्ना मू० पा० । २ सनैराश्य मू० पा० । ३ ऊपर के श्लोक का चौथा चरण यह है —'किं प्राप्तासि कृशोदरि स्तवकिनीयवल्लीयमुत्पल्लवा' । ४ मूर्च्छित मू० पा० ।

[विभाव्य] अये, कथमिदानीमिहाहूय मामकथयित्वा प्रियावृत्तान्त मौनमवलम्बसे ? [सरोषम्] अये, मृषावञ्चक ! तदिह नचिरादेव दावानलस्य विषयीभविष्यति भवानेकं । [पुनरन्यतो गत्वा सवितर्कम्] नूनमनेन सर्वतश्चरता चञ्चरीकेण विदिता भविष्यति मा । तदेतमेवोपसृत्य गच्छामि । [इत्युपसृत्य सविनयम्]

भ्रातर्द्विरेफ[1] भवता भ्रमता समन्तात्
प्राणाधिका प्रियतमा मम वीक्षिता किम् ।
[झङ्कारमनुभूय सानन्दम्]
ब्रूषे किमोमिति सखे कथयाशु तन्मे

इह—अत्र, आहूय—आकारयित्वा, प्रियावृत्तान्त—प्रियसमाचारम् । मौनं—तूष्णीम्भावम्, अवलम्बसे—गृह्णासि ? मृषावञ्चक मिथ्याप्रतारक !, नचिरादेव —शीघ्रमेव दावानलस्य—दावाग्ने विषयीभविष्यति—लक्ष्यीभविष्यति । सर्वत —चतुर्दिक्षु चरता—भ्रमता चञ्चरीकेण—भ्रमरेण, विदिता—ज्ञाता । उपसृत्य—समीपं गत्वा ।

भ्रात , द्विरेफ—भ्रमर !, समन्तात्—सर्वत , भ्रमता—चरता, भवता, मम, प्राणाधिका—प्राणतोऽपि गरीयसी, प्रियतमा—प्रेयसी, किं वीक्षिता—दृष्टा ? झङ्कारमनुभूय सानन्दमिति कविवाक्यम् । तथा च भ्रमरस्य झङ्कारमेव ओम् शब्द मत्वा नायक पुनराहेत्यर्थ । किम्, ओमिति, ब्रूषे— कथयसि ?, ओमिति स्वीकारार्थमव्ययम् । तथा च 'मया वीक्षिता' इति किं स्वीकरोषीत्यर्थं । तत—तदा सखे— मित्र ! आशु—शीघ्र,

[सोचकर] अरे ! मुझे बुलाकर भी मेरी प्रियतमा का वृत्तान्त बिना बताये ही मौन धारण कर रहे हो ? [क्रोध के साथ] हे मिथ्या वञ्चक ! अब से अधिक देर बाद नही (शीघ्र ही) तुम दावानल से भस्म हो जाओगे । [पुन दूसरी ओर जाकर तर्क पूर्वक] सर्वत्र विचरण करने वाले ये भौंरे निश्चित ही उसके विषय मे जानते होगे । तो उनके पास पहुँचकर पूछूँ । [यह कहकर उनके पास जाकर विनम के साथ]

बन्धु भ्रमर ! तुम चारो ओर विचरते हो । प्राण से भी बढ़कर मेरी प्रियतमा को देखा है क्या ? [झकार सुनकर आनन्द से] क्या हाँ कह रहे

[1] द्विरेफमू० पा० ।

[इति सविनयम्]

धीरसमीरण दक्षिणसरसिजशीतल किं दहस्येवम्,

[सविमर्शम्]

जाने चन्दनशैलद्विजिह्वसंसर्गदूषितस्त्वमपि ॥१२॥

[नेपथ्ये] अहो, पश्यत, पश्यत—

आस्तीर्णा इव नीलचेलनिचयैः पूर्णा इवेन्दीवरै-

राकीर्णा इव चूर्णितैर्मृगमदैः पूर्णा इवाभ्रैर्नवैः ।

रुद्ध्यानेन विगृह्य लोचनपथं भेद्येन सूचीमुखै-

धीरसमीरण— हे मन्दपवन ! दक्षिणसरसिजशीतल—दक्षिणवनस्थैः सरसिजैः कमलैः शीतल शीतलस्पर्श ! किम्, एवम्, दहसि—भस्मीकरोषि, जाने, त्वमपि, चन्दनशैलद्विजिह्वसंसर्गदूषितः—मलयगिरिवासिसर्पसम्पर्केण दूषितो जात इति शेषः ॥१२॥

नीलचेलनिचयैः—नीलाम्बरसमूहैः, आस्तीर्णा इव—अवच्छादिता इव, इन्दीवरैः—नीलकमलैः, पूर्णा इव—सम्भृता इव, चूर्णितैः—पिष्टैः, मृगमदैः—कस्तूरीभिः, आकीर्णा इव—व्याप्ता इव, नवैः—नूतनैः अभ्रैः—मेघैः, पूर्णा इव, अनेन, तमालमलिनच्छायेन — तमालवृक्षवत्, मलिना कृष्णवर्णा छाया कान्तिः यस्य तादृशेन, सूचीमुखैः भेद्येन—निबिडेन, तमसा-

---

करने वाला यह मलयानिल भी मुझे सन्तप्त कर रहा है ? अस्तु, इस प्रेमी निवेदन करता हूँ । [ऐसा कहकर विनय के साथ]

हे दक्षिण वन के कमलों से शीतल मन्द वायु ! मुझे इस प्रकार क्यों सन्तप्त करते हो? [विचार करके] मालूम होता है कि मलयगिरि के सर्पों के संसर्ग से तुम भी दूषित हो गये हो ॥१२॥

[नेपथ्य में] अहा, देखो, देखो—

तमालवृक्ष की मलिन छाया की भाँति सूचीभेद्य अन्धकार ने समस्त दिशाओं को व्याप्त कर लिया, नयन-पथ पर कुछ भी दृष्टिगत नहीं होता। पड़ता है कि सम्पूर्ण दिशायें नील वस्त्रों से आच्छादित हो गई अथवा

राच्छन्नास्तमसा नमामममलिनच्छायेन[1] सर्वा दिशः ॥१३॥

राजा—[निशम्य, समन्तादवलोक्य] अये, कथमिदानीम्—

आलोकाय भवन्ति न प्रततयो नैणा न भूमीरुहो
नाकाशं न वसुन्धरा न हरितो नाक्षाणि नाङ्गानि वा ।
रुद्ध्वानेन कुतश्चिदेत्य जगती कस्मादकस्मादहो
सर्वं क्वापि निरन्तरेण तमसा संहृत्य नीतं बलात् ॥१४॥

अन्धकारेण, विगृह्य—विरोधं कृत्वा, लोचनपथं — दृष्टिमार्गं, रुद्ध्वा, सर्वा —समस्ताः, दिशः, आच्छन्नाः — आवृता.। अत्र शार्दूलविक्रीडितं छन्दः ॥१३॥

न प्रततयः—न लता., न एणाः—न मृगा , न भूमीरुहः—न वृक्षाः, न आकाश, न वसुन्धरा—न पृथ्वी, न हरितः— न सिंहाः, न अक्षाणि—न सर्पा , वा—अथवा, न अङ्गानि—न अवयवा, आलोकाय—दर्शनाय, भवन्ति—जायन्ते । अहो—आश्चर्यम्, कस्मात्—कथम् , अकस्मात—असंभावितरूपेण, कुतश्चित् —कस्मादपि स्थानात्, एत्य — आगत्य, जगती — संसार, रुद्ध्वा — अवरुध्य, अनेन, निरन्तरेण — स्थायिना, तमसा—अन्धकारेण, सर्वं—निखिल वस्तुजात, संहृत्य—एकत्रीकृत्य, क्वापि—कुत्रापि, बलात्—बलपूर्वक, नीत— प्रापितम् । अत्रापि शार्दूलविक्रीडित छन्द. ॥१४॥

सर्वत्र नीलकमल खिल गये हैं अथवा कस्तूरी का चूर्ण सर्वत्र बिखेर दिया गया है या नवीन मेघ छा गये हैं ॥१३॥

राजा—[सुनकर, चारो ओर देखकर] ओह, यह क्या ?

लताएँ, हरिण, वृक्ष, आकाश, पृथ्वी, सिंह, साँप और यहाँ तक कि शरीर के अंग भी आँखों दिखाई नहीं पड रहे हैं। अरे, यह तो कहीं से आकर स्थायी अंधकार ने अचानक जगतीतल को ढक लिया और सभी वस्तुओं को एकत्रित करके बलपूर्वक कहीं अन्यत्र उठा ले गया ॥१४॥

१ च्छायेव मू० पा० ।

[विचिन्त्य]

दुर्लक्ष्योऽपि[1] भवति नितरां बाणघातः परेषा—
मस्यत्येव कथमितरथा जायते पुष्पकेतो ।
ध्वान्तच्छन्ने जगति परितश्चापमाकृष्य रोषा—
दित्थं यस्मादधिकमधुना मामयं निर्भिनत्ति ॥१५॥

[विचिन्त्य] कथमिदानीमपि चीयते प्रियवयस्यो मे रसालकः सुहृत्प्रकाशितः खलु शिथिलीभवति सकलोऽप्यान्तरः क्लेशः ।

[ततः प्रविशति विदूषकः]

परेषाम्—अन्येषां बाणघातः—बाणप्रहारः नितराम्—अत्यन्तं, दुर्लक्ष्यः—अदृश्यः, भवति, एवम्—इत्थम् अस्यति—प्रक्षिपति, (चेत्) पुष्पकेतोः—कामस्य, (बाणघातः) कथम्, इतरथा—अन्यथा, जायते? परितः—चतुर्दिक्षु ध्वान्तच्छन्ने—तमसावृते, जगति—संसारे यस्मात्, यतः, अयं—कामः, रोषात्—कोपात्, इत्थम्—अमुना प्रकारेण, चापम्—धनुः, आकृष्य, अधुना—इदानीम्, माम्, अधिकं, निर्भिनत्ति—छिनत्ति । अत्र मन्दाक्रान्ताच्छन्दः ॥१५॥

चीयते—दृश्यते, रसालकः—एतन्नामको विदूषकः । सुहृत्प्रकाशितः—मित्राय निवेदितः, आन्तरः—अन्तःकरणस्य, क्लेशः—कष्टं, शिथिलीभवति—

[सोचकर] दूसरों के द्वारा छोड़ा गया बाण कठिनता से ही दृष्टिगत होता है। परन्तु आघात करता ही है, फिर कामदेव के छोड़े गये बाण कैसे अन्यथा हो सकते हैं? यही कारण है कि घोर अन्धकार के द्वारा चारों ओर से जगतीतल के ढक लिये जाने पर यह कामदेव कोपपूर्वक अपना धनुष को खींचकर मुझे अत्यन्त ही पीड़ित कर रहा है ॥१५॥

[सोचकर] मेरे प्रिय मित्र रसालक इस समय भी दिखाई पड़ रहे हैं। मित्र पर अन्तर का क्लेश प्रकट कर देने से कम हो जाता है।

[इसके बाद विदूषक प्रवेश करता है।]

१ दुर्लक्ष्ये मू० पा०।

विदूषक—कुत्रे दानी पश्यामि इह घोर अन्धकारे कुत्रापि लुठन्त मदनवेदनोद्विग्न[1] प्रियवयस्यम्। कथम् इह एव अनावरणाभरण-प्रतापभासुरो दृश्यते वातुल इव परिभ्रमन्नेष[2]। तदिदानीमेतस्य प्रिय निवेद्य सकलानामपि मन्त्रिवराणा शिरसि चरण[3] दास्यामि[4]। (कहिंदाणि पेक्खामि इध घोरअन्धआरे कहिंपि लुडन्त मदणवेदणाउव्विग्ग पिअवअस्स। [अग्रतोऽवलोक्य] कध इधज्जेव अणावरणाभरणप्पतापभासुरो दीसदि वाचिलोविअ परिभमन्तो एसो। तादाणि एदस्स पिअ णिवेदिअ सअलाण वि मन्तिवराण शिरे चलण दइस्स।)

[इत्युपसर्पति]

राजा—सखे! एह्येहि। कथय कथ वा मम विनोदनीय मदन-वेदनाविद्रून हृदयम्।

न्यूनीभवति। लुठन्तम्—इतस्ततः पतन्त, मदनवेदनोद्विग्नम्—कामपीडया व्याकुलम्। अनावरणाभरणप्रतापभासुर — वस्त्राभूषणरहितोऽपि प्रताप-मात्रेण शोभमान, वातुल —उन्मत्त। शिरसि चरण दास्यामि—सर्वतः श्रेष्ठो भविष्यामि। मदनवेदनाविद्रूनम्—कामपीडाव्यथितम्।

विदूषक—इस घोर अन्धकार के मध्य कामवेदना से पीड़ित अपने प्रिय मित्र को कहाँ देख सकूगा? [सामने देखता हुआ] अरे, यही वस्त्राभूषणों से सुसज्जित न होते हुए भी केवल अपने प्रताप से प्रकाशमान वे एक उन्मत्त की भाँति घूमते हुए दिखाई दे रहे हैं। तो अब उनके प्रिय सन्देश का कथन करके मैं समस्त श्रेष्ठ मन्त्रियो के सिर पर चरण रख दूगा।

[यह कहकर राजा के निकट पहुँचता है]

राजा—मित्र! आओ, आओ। यह बताओ कि मदनवेदना से पीड़ित मेरा हृदय कैसे बहलाया जाय?

१ मदनवेदनोविग्न मू॰पा॰। २ परिभ्रमन्नेव मू॰पा॰। ३ चरण मू॰पा॰। ४ दास्यामि मू॰पा॰।

विदूषकः—यस्य तवाहम् अतिशयितसकलमन्त्रिबुद्धिविभवः[1] प्रियवयस्यः तस्य कथं मदनवेदनाया अप्यवकाशः। (जस्स दे अहं अदिसइदसअलमन्तिबुद्धिविहवो पिअवअस्सो तस्स कथं मदणवेदणाएवि अवआसो।)

राजा—कथय, कथं नाम ?

विदूषकः—एषा खलु इदानीमेव अदूरस्थितं मणिमण्डपम् आनीता मया सह सुनन्दनया[2]। यदिदानीं[3] मतर्कितमेघमण्डलीव कुतोऽप्यागत्य देवी अन्तराया[4] न भवति तदा उपलब्धव्या त्वया चन्द्रकला। (एसा क्खु दाणि एदंज्जेव अदूरवट्टिदं मणिमण्डवं आणिदा मए सह सुणदणाए। अजदिदाणि अथक्किदमेहमण्डलीविअ कुदोवि आअदुअ देवी अन्तरा ण भोदि तदा उवलद्धव्या तए चन्दअला।)

[ततः प्रविशति माधविकया निर्दिश्यमानमार्गा देवी रतिकला च]

अतिशयितसकलमन्त्रिबुद्धिविभवः—अतिशयितः अतिक्रान्तः सकलानां समस्तानां मन्त्रिणां बुद्धिविभवः धीसम्पदा येन तादृशः। अदूरस्थितं—समीपवर्तिनम्। अतर्कितमेघमण्डली — अतर्किता असम्भाविता मेघमण्डली जलदपंक्तिः, अन्तराया—विघ्नरूपा, उपलब्धव्या—प्राप्तव्या। निर्दिश्यमानमार्गा—निर्दिश्य-

---

विदूषक—समस्त मंत्रियों के बुद्धि-वैभव को पराजित कर देनेवाला मुझ जैसा जिसका प्रिय मित्र है, उसको मदनवेदना का अवसर कहाँ ?

राजा—बताओ, किस प्रकार ?

विदूषक—उसे तो अभी-अभी सुनन्दना के साथ यहाँ से निकट ही मणिमण्डप में मैं ले आया हूँ। अब यदि, अचानक मेघ-मण्डली की भाँति देवी कहीं से आकर विघ्न न बन जायें तो चन्द्रकला तुम्हें प्राप्त हो जाएगी।

[इसके बाद माधविका द्वारा निर्दिष्ट मार्ग से महारानी अपनी सखी रतिकला के साथ आती है।]

---

१ अतिशयितसकलमन्त्रिबुद्धिविभवोऽक्रः मू० पा०। २ सुनन्दया मू० पा०
३ यदिदानीम् मू० पा० ।अन्तरायो मू० पा०।

देवी—चेटि ! एवमपि नाम भवेत्। (हञ्जे! एवं पि णाम भवे।

माधविका—पश्यतु भट्टिनी। पेक्खदु भट्टिणी।

[इत्यङ्गुल्या निर्दिशति]

देवी—[विलोक्य] सखि रतिकले! किमिदानीं कुर्म (हला रदिअले! किं दाणिं करेम्ह।)

रतिकला—प्रच्छन्ना एतम् अनुगच्छन्त्य¹ सर्वं जानीम' (पच्छण्णाज्जेव एद अणुगच्छन्ति सव्व जाणम्ह।)

राजा—सखे! केन पुनरुपायेन इत आनीताऽप्येषा।

विदूषक—एवमिव। (एव।)

[इति कर्णे कथयति]

राजा—[सहर्षम्] सखे! तदेतत्तव पारितोषिकम्। [इति कङ्कण दत्त्वा] तदिदानीं दर्शय कुत्र प्रियतमा।

[तत प्रविशति सोत्कण्ठा चन्द्रकला सुनन्दना च]

मान उच्यमान मार्ग पन्था यस्यै तादृशी। प्रच्छन्ना—गुप्ता, अनुगच्छन्त्य — अनुसरन्त्य। पारितोषिकम्—पुरस्कार। सनिर्वेद — महता

देवी—चेटिके! निश्चित ही यह सम्भव है।

माधविका—देखिए, महारानी! [कहती हुई अंगुली से निर्देश करती]

देवी—[देखकर] सखी रतिकला! इस समय क्या करना चाहिए।

रतिकला—छिपकर इसका अनुसरण करती हुई हम लोग सब जान लें।

[वैसा ही करती हैं]

राजा—मित्र! वह यहाँ किस प्रकार लायी गई?

विदूषक—इस प्रकार [कान में कहता है]

राजा—[हर्षित होकर] मित्र! तो यह रहा तुम्हारा पुरस्कार। [कहते हुये कंकण देकर] तो प्रियतमा कहाँ है? दिखाओ।

[इसके बाद उत्कण्ठा-युक्त चन्द्रकला और सुनन्दना का प्रवेश]

---

१. अनुगच्छन्त्य मू॰पा॰

चन्द्रकला—[सनिर्वेदं दीर्घं निःश्वस्य] सखि ! अकारणं किमिति मां पुनः पुनर्वञ्चयन्ती[1] क्लेशयसि ? अहमिदानीमस्यामशोकशाखाया कण्ठे लतापाशं बद्ध्वा आत्मानं व्यापादयामि । मा मामिदानीं निवारयस्व । (हला ! अआरणं कीसमं पुणो पुणो वञ्चअन्ति किलिसा[2] भवेसि । अहं दाणीं एमाए असोअसहाए कण्ठे लदापासं[3] उब्बन्धिअ अत्ताणं वावादेमि । मा मं इदाणीं णिवारेसु ।)

सुनन्दना—सखि ! मा उत्ताम्य । मम वचनेन क्षणमपि परिपालयस्व भर्तुरागमनम् । (हला ! मा उत्तम्ह । मह वअणेण खणपि पडिबालेसु भट्टिणो आअमणम् ।)

विदूषकः—एतु एतु प्रियवयस्य. । (एदु एदु पिअवअस्स ।)

[इत्युभौ परिक्रामतः — सर्वा अनुक्रामन्ति]

विदूषकः— पश्यतु पश्यतु प्रियवयस्यः । एषा सा आत्मन एव अङ्गकान्त्या महान्धकारेऽपि प्रकाशिता ते प्रियतमा । (पेक्खदु पेक्खदु

कष्टेन सहितम् । वञ्चयन्ती — प्रतारयन्ती, क्लेश—यसि—कष्ट ददासि लतापाशं—लतायाः बन्धनीम्, व्यापादयामि—मारयामि । निवारयस्व—निषेध । मा उत्ताम्य—निराशा भूत्वा अलम् निराशा मा भवेति यावत् । परिपालयस्व—प्रतीक्षस्व । अनुक्रामन्ति—पश्चात् चलन्ति ।अङ्गकान्त्या—शरीरतेजसा ।

चन्द्रकला—[लम्बी साँस लेकर] सखी ! क्यों मुझे बार-बार धोखा देकर दुःख देती हो ? मैं अब लता-पाश के द्वारा इसी अशोक की डाल में अपना गला बाँधकर हत्या कर लूँगी । अब मुझे रोकना मत ।

सुनन्दना—सखी ! हताश न हो । मेरे कहने के अनुसार क्षण भर तो महाराज के आने की प्रतीक्षा करो ।

विदूषक—आओ मित्र ! आओ । (दोनों चलते हैं । सभी स्त्रियाँ अनुसरण करती हैं ।)

विदूषक—देखो प्रिय मित्र ! देखो—तुम्हारी प्रियतमा अपने अंगों की कान्ति

१ विंचयन्ती मू०पा० । २. किलिसा मू०पा० । ३. लदापास्य मू०पा०

पिअवअस्सो। एसा सा अत्तणोज्जेव अङ्गकन्तिए महन्धआरेवि पआसिदा दे पिअदमा।)

राजा— [विलोक्य सहर्षम्] अये, अस्या खलु—

बिम्बस्यासुकृतेन दन्तवसनं मत्तेभकुम्भद्वय-
स्यापुण्येन पयोधरौ कुवलयस्याकर्मणा चक्षुषी।
इन्दोर्भाग्यविपर्ययेण वदनं कुन्दावलेरेनसा
दन्तालो कदलीतरोश्च दुरितेनोरुद्वयं निर्मितम् ॥१६॥

किञ्च,

मध्येन मध्यं तनुमध्यमा मे पराजयं नीतवतीति रोषात्।

बिम्बस्य–बिम्बफलस्य, असुकृतेन–अपुण्येन, दन्तवसनम्–ओष्ठम्, मत्तेभकुम्भद्वयस्य—मत्तगजस्य शिरसः मांसपिण्डद्वयस्य, अपुण्येन—पापेन, पयोधरौ – कुचौ, कुवलयस्य – नीलकमलस्य, अकर्मणा—निन्दितकर्मणा चक्षुषी-नेत्रे, इन्दोः — चन्द्रस्य, भाग्यविपर्ययेण — दैवप्रातिकूल्येन, वदनं — मुखम्, कुन्दावलेः — कुन्दपुष्पाणां पङ्क्तेः, एनसा — पापेन दन्तालो–दन्त, पङ्क्तिः, कदलीतरोश्च–कदलीवृक्षस्य, दुरितेन–पापेन, ऊरुद्वयं–जङ्घायुगलं, निर्मितम्–रचितम् (अत्र शार्दूलविक्रीडितं छन्दः) ॥१६॥

तनुमध्यमा—कृशतरकटीदेशा, मध्येन—कटीदेशेन, मे—मम सिंहस्य, मध्यं—कटीदेशं, पराजयं नीतवती—पराजितवती इति, रोषात्—क्रोधात्,

से इस अन्धकार में भी प्रकाशित हो रही है।

राजा—[देखकर हर्ष के साथ] अहा! इसके—

ओष्ठ कदाचित् बिम्बाफल के अभाग्य से, दोनों कुच मत्त हाथी के शिर के दोनों मांस-पिंड के दुर्भाग्य से, आँखें नीलकमल के पापोदय से, मुख चन्द्रमा के भाग्योदय से, दन्त - पंक्ति कुन्द - पुष्पों की पंक्ति के पाप से और दोनों जघायें कदलीवृक्ष के पाप के कारण बन पड़े हैं (कवि का तात्पर्य यह है कि इसके शरीराग—ओष्ठ, कुच, नेत्र, मुख, दन्तावली और जांघें क्रमशः बिम्बाफल, मत्त गज के कुम्भद्वय, नीलकमल, चन्द्रमा, कुन्दपुष्प और कदलीवृक्ष की सुन्दरता को लजाने वाले हैं ॥१६॥

और भी, सिंह इस विचार से कि इस क्षीणकटि सुन्दरी ने मेरी कटि

कण्ठीरवोऽस्याः कुचकुम्भतुल्यं मत्तेभकुम्भद्वितयं भिनत्ति ॥१७॥

देवी—[निःश्वस्य] अहो, महाभिनिवेशोऽस्यां दुष्टकन्यकायामार्यपुत्रस्य। सखि! तदेहि इह भित्त्या अन्तरिता उपरिवृत्तान्तं पश्यामः। (अहो महअहिणिवेसो एदाए दुट्ठकण्णआए अज्जउत्तस्स। हला, ता एहि इम भित्तिए अन्तरिदा उवरिवुत्तन्तं पेक्खम्ह।)

[इति सर्वा[1] अन्तरिता पश्यन्ति]

राजा—सखे! तदेहि निर्वापयामो मदनसन्तप्तमात्मानमनया[2]।

[इत्युपसर्पतः]

चन्द्रकला—[विलोक्य सचकितव्रीडं सहसोत्थाय मुखं नमयन्ती

कण्ठीरवः-सिंहः, अस्याः—नायिकायाः, कुचकुम्भतुल्यं—स्तनकुम्भसदृशं, मत्तेभकुम्भद्वितयं—मत्तगजकुम्भयुगलं, भिनत्ति—नखराघातेन विदारयति। अत्र प्रत्यनीकमलङ्कारः प्रतीपालङ्कारश्चेत्यनयोरेकाश्रयानुप्रवेशरूपः सङ्करः। उपजातिश्छन्दः ॥१७॥

महाभिनिवेशः — महती अनुरक्तिः। भित्त्या — कुड्येन, अन्तरिताः— प्रच्छन्नाः, उपरिवृत्तान्तम्—अग्रिमघटनाम्। निर्वापयाम —शमयामः, मदनस—

की क्षीणता को पराजित कर दिया, क्रुद्ध होकर इसके कुचकुम्भ की भाँति मत्त गज के दोनो कुम्भो को विदीर्ण कर रहा है। १७॥

देवी—[लम्बी साँस लेकर] आह! महाराज का इस दुष्ट कन्या के प्रति तो बड़ा ही अधिक अनुराग है। सखी! तो आओ, दीवाल की ओट से सारे क्रिया-कलापों को देखें।

[कहकर सब ओट मे चली जाती हैं।]

राजा—सखे! चलो, इससे अपने काम-सन्तप्त हृदय को शान्त करूँ।

[दोनो समीप जाते हैं।]

चन्द्रकला-[आश्चर्य से लज्जित-सी होती, सहसा उठकर, अपना मुख नीचे किये, हर्ष से मन ही मन] आश्चर्य! अभी तक जिस जीवन को मैं विष

१. सर्वाः मू॰पा॰, । २. मदनसन्तप्तमात्मानमनया मू॰पा॰।

सानन्दमात्मगतम्] आश्चर्य, यत्किलेद जीवित हलाहलमिति सम्भावित तदिदानी कथ महाभागधेयेन अमृतत्वेन परिणतम् । (अम्महे, ज किल एद जीविद हलाहलत्ति सम्भाविद तीदाणी कथ महाभाअधेएण अमित्ततोण पणिणद ।

राजा— वैलक्ष्यस्य भवत्यसाववसरो नैतावस्तेऽधुना
कि नामाननचन्द्रमानमयसि प्राणाधिके प्रेयसि ।
एभिर्गाढमनङ्गमञ्जुल[1] गृहैरालिङ्ग्य मामङ्गकै-
रणप्रेक्षणि पञ्चबाणविशिखक्षीण विनिर्वापय ॥१८॥

देवी—[रतिकला तिर्यगवलोक्य] सखि! पुनरपि मह्य[2]मालपि-

न्तप्तम्-कामपीडितम् । सचकितव्रीडम्-विस्मयेन लज्जया च सहितम, नमयन्ती—अध कुर्वन्ती । जीवित—जीवन, हलाहलम-एतन्नामक विषम, सम्भावित—ज्ञातमित्यर्थ, महाभागधेयेन-महानुभावेन स्वामिना, अमृतत्वेन परिणतम्—अमृत निर्मितम्

अधुना –इदानीम्, ते-तव, एतावत —इयत्परिमाणस्य, वैलक्ष्यस्य-लज्जाया, असौ, अवसर –समय, न भवति– नास्ति, प्राणाधिके-प्राणेभ्योऽपि गरीयसि ! प्रेयसि-प्रियतमे ! कि नाम — किमर्थम्, आननचन्द्र –मुखचन्द्रम् आनमयसि–नीचै करोषि ? एणप्रेक्षणि – मृगनयने ! पञ्चबाणविशिखक्षीण-मदनबाणै सन्तप्त, माम् एभि , अनङ्गमञ्जुलगृहै -मदनसुन्दरनिवासभूतै , अङ्गकै – अवयवै , गाढ – दृढ यथा स्यात् तथा, आलिङ्ग्य-परिरभ्य, विनिर्वापय-शमय। अत्र शार्दूलविक्रीडित छद ॥१८॥

तिर्यक्—वक्र यथा स्यात तथा अवलोक्य—दृष्टवा । आलपिष्यति—

समझ रही थी, वही महाराज के द्वारा अमृत म बदल गया ।

राजा—लज्जा करने का यह अवसर नही है। हे प्राणों से भी अधिक प्यारी! अपना चन्द्रानन नत क्यो कर रही हो ? हे मृगनयनी! इस समय तो चाहिए कि तुम काम बाण से पीडित मुझको कामदेव के सुन्दर आवास रूप इन अगों से आलिगन करके शान्ति प्रदान करो ॥१८॥

देवी—[रतिकला पर तिरछी चितवन डालती हुई] सखी!

---

१ मञ्जुल कुमप्रा० । २ मा. कुमप्रा० ।

च्यत्यार्यपुत्रः । (हला पुणोबि मं आलविस्सदि अज्जउत्तो ।

सुनन्दना–सखि! किमेव प्रतिपद्यसे । कुरुष्व तावद् भर्तृ वचनम् ।

(हला किं एवं पडिवज्जसि । करसु दाव भट्टिणो बअणं ।)

माधविका—भट्टिनि! शृणुष्व तावत् तव विश्वसनीयाया वचनम्[१]।

(भट्टिणि! सुण दाव तुह विससणीआए बअणं ।)

देवी–चेटि ! कालसर्पी[२] किल नीलमणिमालारूपेण कण्ठे वसतीति को[३] जानाति । (हञ्जे[४] ! कालसप्पी किअ णीलमणिमालारूवेण कण्ठे बसदित्ति को जाणादि ?)

चन्द्रकला–[सगद्गदस्वरम्] सखि! देवीप्रकोपभीते महाराजे अस्माकं को विश्वासः! (हला, देवीपओवभीदे महाराए अम्हाणं[५] को बिसद्धो ।)

देवी–(अहो! मम प्रियसख्याः प्रियसखीत्वमेतत् ।) अह्वो, महि पिअसहीए पिअसहीतुअं एद ।

सम्भाषणं करिष्यति । प्रतिपद्यसे–आचरसि । भर्तृवचनम्–स्वामिनः आज्ञाम् । विश्वसनीयाया–विश्वासपात्रस्य । कालसर्पी–कालसर्पिणी, नीलमणिमाला-रूपेण–नीलमणि(नीलम)-निर्मितमालास्वरूपेण । देवीप्रकोपभीते — देव्याः महाराज्ञ्याः प्रकोपेन क्रोधेन भीते त्रस्ते ।

महाराज मुझसे फिर भी संलाप करेंगे ?

सुनन्दना—सखी ! यह क्या कह रही हो ? स्वामी की आज्ञा का पालन करो ।

माधविका—स्वामिनी ! अपनी विश्वासपात्र का वचन सुनिए ।

देवी—चेटिके ! कौन जानता है कि नीलमणि की माला के रूप में गले में स्थित यह कालसर्पिणी है ।

चन्द्रकला—[गद्गद स्वर में] सखी! देवी के कोप से भयभीत महाराज पर हमारा क्या विश्वास है ?

देवी—ओह ! मेरी प्रिय सखी का यह स्नेहशील सौहार्द है ?

---

१. विश्वसनीयावचनं मू० पा० । २. कालसर्पं मू०पा० । ३. को न जानाति मू०पा० । ४. हञ्जेः मू० पा० । ५. अम्हाणं मू०पा० ।

राजा— प्रेमबन्धनिबद्धा मे न देवी न च मेदिनी ।
इतः प्रभृति तन्वङ्गि त्वमेव मम जीवितम् ॥१६॥

देवी—[निशम्य सास्रम्] सखि रतिकले ! इदमपि मया सह्यते' (हञ्जे रदिअले, एव पि मए सहेदि)

रतिकला—सखि ! पुरुषाणां भ्रमराणां स्वभाव एषः, यत्किल नवं नवमेव अनुधावन्ति । (हला, पुरिसभमराणां सुहावो एसो ज किर णवं णवं एव अणुधावदि ।)

चन्द्रकला—सखि सुनन्दने ! देवीं प्रेक्ष्य सर्वं खलु विस्मरिष्यति महाराजः । (सहि, सुणन्दणे, देइं पेक्खिअ सव्वं क्खु विस्समेरिस्सेदि महाराओ ।)

देवी—सखि ! शृणु, तावत् शृणु तावत् । आर्यपुत्रस्य दर्शनमात्रकेणापि एतस्या दुष्टकन्यकाया एवंविधानि आलपितानि । (हला, सुणेहि दाव सुणेहि । अज्जउत्तस्स दसणमत्तकेण पि एदाए दुट्ठकण्णाआए एव्वं विहाणि आलपिदाणि ।)

मे —मम, प्रेमबन्धनिबद्धा—प्रेम्णः बन्धनेन बद्धा, देवी, न—नहि, मेदिनी—पृथ्वी, च, न, तन्वङ्गि — क्षीणाङ्गि, इतः प्रभृति — इत आरभ्य, त्वमेव, मम, जीवितं—जीवनम् (असि) । अत्र अनुष्टुप् छन्दः ॥१६॥

निशम्य—श्रुत्वा, सास्रम्—अश्रुणा सहितम् । अनुधावन्ति—पश्चाद् वेगेन गच्छन्ति । आलपितानि—भाषणानि । व्याहरति—वदति । तत्र प्रभृति—

राजा—मेरे लिए प्रेम के बन्धन में बँधी हुई न तो देवी है और न पृथ्वी है सुन्दरी ! आज से तुम ही मेरे प्राण हो ॥१६॥

देवी—[सुनकर आँसू के साथ] सखी रतिकला ! यह भी मुझे सहना पड़ता है ।

रतिकला—सखी ! पुरुषों और भौंरों का यह स्वभाव होता है कि वे नये-नये के पीछे दौड़ते रहते हैं ।

चन्द्रकला—सखी सुनन्दना ! महारानी को देखकर महाराज सब कुछ भूल जाएँगे ।

देवी—सखी ! सुनो, सुनो । आर्यपुत्र के मात्र दर्शन से भी यह दुष्ट

रतिकला—सखि ! एवमेतत् । (सहि एव्व एद ।)

राजा—प्रिये ! किमेव व्याहरसि[1] । अद्य प्रभृति निदेशवर्ती[2] तवाय जन ।

विदूषक—[सहर्षम्] अम्महे, आश्चर्य यदि एतस्या प्रियवयस्य आज्ञाकर तत सर्वा अप्यन्त पुरिण्य आज्ञाकर्य । (अम्हरिअ, जइ एदाए पिअवअस्सो अण्णाकरः ता सव्वा अपि अदेउरिणिओ अण्णाकारिणी ओत्ति ।)

देवी—[सरोषमुपसृत्य] आ राजवयस्य महीब्राह्मण ! अहमपि एतस्या आज्ञाकरी ? (आ राअवअस्स महावम्हण अह वि एदाए अण्णाकारिणी त्ति ।)

[इति पुन पुनरधिक्षिपति]

चन्द्रकला—[सभयोत्कम्पम] अहो, अहो ! किमिदानीमापतितम् ! अम्भो, कि दाणि आपदिद ?

अद्यारभ्य, निदेशवर्ती—आज्ञाकारी । अन्त पुरिण्य —अन्त पुरनिव सिन्य । राजवयस्य—राज्ञ सखे ! महीब्राह्मण—भूब्राह्मण । अधमब्राह्मणेति यावत्, अधिक्षिपति—निन्दति । सभयोत्कम्पम्—भयमूलककम्पनेन सह । मा मह्य

रतिकला—सखी ! ऐसा ही होता है ।

राजा—प्रिये ! ऐसा क्यों कहती हो? आज से मैं तुम्हारा आज्ञाकारी हूँ ।

विदूषक—[हर्ष के साथ] अमों ! आश्चर्य है ! ! यदि आप इनके आज्ञाकारी हुए तो अन्त पुर की सभी स्त्रियाँ इनकी आज्ञाकारिणी हुई ।

देवी—[क्रोध के साथ पास जाकर] ओ राजा का मित्र अधम ब्राह्मण ! मैं भी इसकी आज्ञाकारिणी हुई ?

[कहकर बार बार धिक्कारती हैं]

चन्द्रकला—[भय से काँपती हुई] हाय ! यह क्या आ पड़ा ?

---

१ व्याहृसि मू० पा० । २ निदेशवर्ति म० पा० ।

सुनन्दना—[सभयोत्कम्पम्] अहो ! किमिदानीं करिष्यामि। (अम्मो कि दाणि करिस्स ?)

विदूषक—[सोद्वेगम्] भवति ! मा मह्यं कुप्य[1]। (भोदि, मा अम्हेहि कुप्प।)

राजा—[सनिर्वेदमात्मगतम्] इदानीं खलु चेतनापि मे नात्मनो वशवदतामवलम्बते।

देवी—सखि रतिकले ! चेटि माधविके ! एष खलु दुष्टब्राह्मण इयं गर्भदासी सुनन्दना द्वे अपि एकेनैव लतापाशेन एकीकृत्य बद्ध्वा गृह्णाताम्। इयं च दुष्टकन्यका आत्मन एवोत्तरीयेण हस्ते सुदृढम् आपीड्यताम्। (हला रदिअले, हञ्जे माहविए, एसो क्खु दुट्ठो बम्हणो एदा गब्भदासी सुणदणा दुवे वि एक्केण एव्व लदापासेन एक्किकी कदुअ बड्ढा गण्हीत। इअं अ दुट्ठकण्णआ अत्तणो एव्व ओत्तरीएण हत्थे सुदीड्ढ अप्पीड्डत।)

[उभौ तथा कुरुत]

कुप्य—ममोपरि क्रोधं मा कुरु। सनिर्वेदम्—दुःखसहितम्। चेतना — सञ्ज्ञा। वशवदताम्—अधीनत्वम्। न अवलम्बते—न आश्रयति। उत्तरीयेण—प्रावारेण, आपीडयताम—बध्यताम्।

सुनन्दना—[भय से काँपती हुई] हाय ! अब क्या करूँगी ?

विदूषक—[व्याकुलता से] महोदये ! मेरे ऊपर क्रोध न करें।

राजा—[दुःख के साथ मन में] इस समय मेरी चेतना भी स्वयं मेरे वश में नहीं है।

देवी—सखी रतिकला ! दासी माधविका ! इस दुष्ट ब्राह्मण और दासीपुत्री सुनन्दना, दोनो को एक ही लतापाश में बाँधो और इस दुष्ट कन्या के हाथ को इसी की ओढनी से कसकर बाँध लो।

[दोनों उसी प्रकार करती हैं]

---

१ महह्यं कुप्य मू०पा०

विदूषकः—आश्चर्यमाश्चर्यं, कथं बन्धनात् अपि एतस्या गर्भदास्या सुनन्दनाया कठोरस्तनभरेणापीडनं गुरुकं मे अङ्गं बाधते। (अच्चरिअं-अच्चरिअं, कहं बधणादो वि एदाए गब्भदासीए सुणदणाए कठोरत्थणभरेण आपीढणं गुरुअं मह अंगं बाधेदि।)

देवी—सखि रतिकले ! चेटि माधविके ! एतानि इदानीमग्रतः कृत्वा गच्छतम्। (हला रदिअले, हञ्जे माहवीए, एदाहिं दाणिं अग्गदो करुअ गच्छेहि।)

[इति राजवर्जं निष्क्रान्ताः]

राजा—[सनिर्वेदं दीर्घमुच्छ्वस्य[1]]

देव्याः प्रेक्ष्य समक्षमन्य[2] वनितासङ्गं ममैतादृशं
मानस्त्याजयितुं कथं नु भविता शक्योऽतिभूमिं गतः।

कठोरस्तनभरेण—कठिनयोः कुचयोः भारेण, आपीडनं—पीडा।

मम, एतादृशम्, अन्यवनितासङ्गम्—अन्यरमणीसहवासं, समक्षं-सम्मुखं, प्रेक्ष्य—दृष्ट्वा, देव्याः, अतिभूमिं-पराकाष्ठां, गतः—प्राप्तः, मानः—अहंकारोत्पन्न क्रोधः, त्याजयितुं—दूरीकर्तुं, कथं नु—केन प्रकारेण शक्यः, भविता—भविष्यति ? मत्कृते—मदर्थं मुधा—व्यर्थं, सुहृदा—

विदूषक—आश्चर्य ! आश्चर्य !! इस गर्भदासी के कठोर स्तन मेरी देह को बन्धन से भी अधिक पीड़ित कर रहे हैं।

देवी—सखी रतिकला ! और चेटी माधविका ! अब इन्हें आगे आगे लेकर चलो।

[राजा को छोड़कर सभी चली जाती हैं]

राजा—[दुःख के साथ लम्बी सांस लेकर]

अन्य रमणी के साथ मुझे देखकर महारानी का रोष परा काष्ठा पर पहुँच गया है। उसको कैसे हटाया जा सकेगा ? ऐसा लगता है कि विनाश स्वयं

---

१ उच्छ्वस्य मु॰ पा॰। २ मन्यवनिता मु॰ पा॰।

बद्ध वा[1] नीयत वल्लभा च सुहृदा सार्धं मुधा मत्कृते
निर्गच्छन्निव[2] नाशकोऽपि[3] सहसा तत्किं विधेयं मया ॥२०॥

[विचिन्त्य]

तदलमिदानीमत्र स्थित्वा । पुरमेव प्रविश्योपाय चिन्तयामि।

[इति निष्क्रान्ताः सर्वे [

तृतीयोऽङ्कः

मित्रेण , सार्धं —सह , वल्लभा—प्रिया च , बद्ध्वा, अनीयत— दूर प्राप्यत , नाशकोऽपि—विनाशोऽपि , सहसा—हठात् , निर्गच्छन्निव—नि॰ सरन्निव (भाति) तत्, मया, किं, विधेयं —कर्तव्यम् ? अत्र शार्दूलविक्रीडित छन्दः ॥२०॥

' अलं स्थित्वा—अत्र अवस्थान नोचितमित्यर्थः । अत्र स्थाधातोः अलमित्यस्य योगे 'अलंखल्वो प्रतिषेधयो प्राचां क्त्वा' इति पाणिनिसूत्रेण क्त्वा-प्रत्ययः ।

कहीं से आकर अचानक उपस्थित हो गया है। मेरे कारण व्यर्थ में मेरी प्रियतमा मेरे प्रिय मित्र के साथ बाँधकर दूर हटा दी गई है। तो अब मुझे क्या करना चाहिए ? ॥२०॥

[सोचकर]

तो अब यहाँ रुकना व्यर्थ है। महल में ही चलकर कोई उपाय सोचूँ।

[सभी चले जाते हैं]

तीसरा अंक समाप्त ॥३॥

---

१ बध्वा मू॰पा॰।२ निर्गन्त च मू॰ पा॰ । ३ नाशजोऽपि मू॰ पा॰ ।

चतुर्थोऽङ्कः

[ततः प्रविशति निर्विण्णो राजा]

राजा—[दीर्घमुच्छ्वस्य[1]]

पीतं कर्णपुटद्वयेन गरलं भृङ्गीनिनादाभिधं
प्रालेयांशुकरच्छलासु[2] दहनज्वालासु गात्रं हुतम्।
भूयो भूय इति स्वयं विदधता[3] नीता मया यामिनी
निर्याताः कथमश्मसारकठिनाः केनापि नैवासवः ॥१॥

आलप्य वञ्चनपरं बहुचाटुगर्भ-

भृङ्गीनिनादाभिधं—भ्रमरीगुञ्जननामकं, गरलं—विष, कर्णपुटद्वयेन—कर्णाभ्यामित्यर्थः, पीतम्—अपायि, प्रालेयांशुकरच्छलासु—प्रालेयांशुकरः चन्द्रकिरणः छलम् मिषः यासां तासु, दहनज्वालासु—अग्निज्वालासु, गात्रं—शरीरं, हुतम्—अहूयत, स्वयम्—आत्मनैव, भूयोभूय—मुहुर्मुहुः, इति—इत्थं, विदधता—कुर्वता, मया, यामिनी—रात्रिः, नीता—व्यतीता, अश्मसारकठिनाः—लोहवत् कठोराः, असव—प्राणाः, कथं, केनापि, नैव, निर्याताः—निर्गताः। अत्र शार्दूलविक्रीडितं छन्दः ॥१॥

बहुचाटुगर्भम्—अनेकचाटुकारिताशब्दपूर्वकं, वञ्चनपरं—कपटपूर्णं, (वचनम्) आलप्य—कथयित्वा, चिरं—चिरकाल यावत्, अंघ्रितले—

[इसके बाद दुःखी राजा प्रवेश करता है]

राजा—[लंबी साँस खींचकर] मैंने भौंरो के गुंजन रूप विष को अपने कर्णपुटो से पिया और चन्द्रकिरणो के रूप मे धधकती हुई अग्निज्वाला में अपने शरीर को होम किया। इस प्रकार स्वयं वार-बार करते हुए मैंने रात वितायी; किन्तु लोहे के समान कठोर मेरे प्राण क्यो नही किसी प्रकार निकले, यह आश्चर्य है ॥१॥

कपटपूर्ण, मिथ्या प्रशंसा के शब्द कहकर भी मैं कितनी देर से महारानी

---

१ दीर्घमुच्छ्वस्य मू० पा०। २ छलासु मू० पा०। ३ विदहता इति पाठान्तरम्।

मेष स्थितोऽस्मि चिरमंघ्रितले निपत्य ।
आलीजनैरभिहितापि तथा मदर्थं
देवी कथञ्चन पुनर्न गता प्रसादम् ॥२॥
[विचिन्त्य सकरुण निःश्वस्य आकाशे लक्ष्य बद्ध्वा]
हे दुर्दैव यदा चिरस्य भवतो भूयोऽपराद्धं मया
तन्मय्येवमनारत प्रहरतो वक्ष्ये न किञ्चित्तव ।
बद्ध्वाऽङ्गेषु दृढ शिरीषकुसुमप्रायेषु यत् प्रेयसी
नीता जीवितसंशयं कथय तत्किं वा कृत तेऽनया ॥३॥

पादतले, निपत्य—पतित्वा, एषः—अहम्, स्थितोऽस्मि—विद्यमानोऽस्मि, तथा, मदर्थं—मत्कृते, आलीजनैः—सखीजनैः, अभिहितापि—निवेदितापि, देवी, पुनः—भूयः, कथञ्चन—केनापि प्रकारेण, प्रसाद—प्रसन्नता, न गता—न जाता । अत्र वसन्ततिलक छन्दः ॥२॥

हे दुर्दैव—हे दुर्भाग्य !, यदा, चिरस्य—चिराय, मया, भवतः—तव, भूयः—वारं वारम्, अपराद्धम्—अपराधः कृतः, तत्—तस्मात्, मयि, एवम्—इत्थम्, अनारत—सतत, प्रहरतः प्रहारं कुर्वतः, तव न, किञ्चित्, वक्ष्ये—कथयिष्यामि, (किन्तु) यत् प्रेयसी—प्रियतमा, शिरीषकुसुमप्रायेषु—शिरीषपुष्पवत् कोमलेषु, अङ्गेषु—अवयवेषु, दृढ, बद्ध्वा जीवितसंशय—प्राणसन्देह, नीता—प्रापिता, तत्, कथय—ब्रूहि, अनया—मे प्रेयस्या, ते—तव, किं, वा, कृत—विहितम् । अत्र शार्दूलविक्रीडितं छन्दः ॥३॥

के चरणों में नत हूँ । इतना ही नहीं, मेरी ओर से सखियों द्वारा बार-बार निवेदन करने पर भी महारानी पुनः मेरे ऊपर प्रसन्न नहीं हुईं ॥२॥

[सोचकर, दुःख की साँस लेकर, आकाश की ओर दृष्टि गड़ाकर]

हे दुर्भाग्य ! जब चिरकाल से मैंने तुम्हारा बार-बार अपराध किया तब जो तुम मुझ पर इस प्रकार सतत प्रहार कर रहे हो, इसके लिए मैं तुमसे कुछ नहीं कहूँगा ; किन्तु मेरी प्रियतमा के शिरीष-पुष्प से कोमल अंगों को दृढ़ता से साथ बाँधकर प्राणों को ही संशय में जो डाल दिया सो बताओ, इसने तुम्हारा क्या बिगाड़ा ॥३॥

[पुनर्नि श्वस्य सास्रम्] हा वयस्य ! त्वमपि मत्कृते जीवितमपहारयिष्यसि ।

[ततः प्रविशति विदूषकः]

विदूषकः—[राजानं प्रति] स्वस्ति भवते प्रियवयस्याय । (सोत्थि भोदु पिअवअस्सस्स)

राजा—[विलोक्य सहर्षम्] दिष्ट्या जीवति प्रियवयस्यः ।

विदूषकः—भो वयस्य ! देवी विज्ञापयति—मम तातस्य नगरात् इह वन्दिनः समागताः । ते इदानीम् आर्यपुत्रसहिताया मम दर्शनसमुत्सुका वर्तन्ते । अहमपि सुचिरादधिगतबन्धुकुलवृत्तान्ता श्रोतुमुत्कण्ठिता । तद् यदि रोचते, तदा मया सह अभ्यन्तरस्थानमणिमण्डपे उपविश्य तेषां वन्दिजनानाम् अवकाशं ददातु आर्यपुत्र ' । (भो व-

---

सास्रम्—अश्रुणा सहितम् । जीवितं—प्राणान् , अपहारयिष्यसि—नाशयिष्यसि । स्वस्ति—कल्याणम् । दिष्ट्या—भाग्येन । वन्दिनः—स्तुतिपाठकाः । दर्शनसमुत्सुकाः—दर्शनोत्कण्ठाः । सुचिरादधिगतबन्धुकुलवृत्तान्ता—सुचिरात् बहुदिनानां पश्चात् अधिगतः प्राप्तः बन्धुकुलस्य बान्धवानां वृत्तान्तः समाचारः यया तादृशी , उत्कण्ठिता – समुत्सुका । अभ्यन्तरस्थानमणिमण्डपे—अन्तः पुरस्थितमणिरचितमण्डपे । अवकाशम्—अवसरम् । दुरपनोदामर्षवशव-

---

[फिर आह भरकर आँसुओं के साथ] हाय मित्र ! तुम भी मेरे कारण अपने प्राण त्याग दोगे ?

[इसके बाद विदूषक प्रवेश करता है]

विदूषक—[राजा से] प्रिय मित्र का कल्याण हो ।

राजा—[देखकर हर्ष के साथ] भाग्य से प्रिय मित्र जीवित है ।

विदूषक—मित्र ! देवी घोषणा कर रही हैं – 'मेरे पिता के नगर से बन्दीगण आये हुए हैं । वे आर्यपुत्र के साथ मेरे दर्शन के लिए उत्सुक हैं । मैं भी बन्धुकुल का समाचार जानने के लिए बहुत दिनों से उत्कण्ठित हूँ । इस-

सस्स देई विण्णवेदि --'मह तादस्स पअरादो एत्थ वंदिणो समाअदो। ते दाणि अज्जउत्तस्सहिदाए मह दस्सण सम्मुस्सुकाओ वट्टेंति। अह वि सुदृणअहिगद वधुउत्त वत्तास्स सुणिदु उक्कठिआ हिा। ता जइ रोअदि तह मए सह अब्भदरत्थाणमणिमडवेहिं उवट्ठिदाण ताण वदिजणाण ओआस पडिज्जेदु अज्जउत्तो त्ति।)

राजा—[निशम्य सहर्षम्] सखे[1]तया दुरपनोदामर्ष[1] वशवदाया क्यमपि[2] मे महाप्रसादो देव्या। तत्कथय कथ नाम बन्धनान्मुक्तो भवान् ?

विदूषक —आत्मन एव[3] सुब्राह्मण्यस्य प्रसादेन। (अत्तणो एव्व सुबम्हणस्स प्पआदेण।)

राजा—तथापि कथम् ?

विदूषक —कथमिति कथ मन्त्रसिद्धो ? (कह त्ति। अले म तसीद्धीणा।)

दाया —दुरपनोदस्य निवारयितुमशक्यस्य अमर्षस्य क्रोधस्य वशवदाया अधीनाया, महाप्रसाद —महान् अनुग्रह। सुब्राह्मण्यस्य--सद्विप्रत्वस्य। स्फुट—

लिए यदि उचित समझें तो मरे साथ अन्त पुर के मणि मण्डप म बैठकर आर्यपुत्र उन वदिजनो को दर्शन का अवसर दें।

राजा—[सुनकर प्रसन्नता से] यह तो महारानी की महती कृपा है, क्योंकि उनके क्रोध का निवारण बडा कठिन हो गया था। अच्छा, यह बताओ कि तुम व धनमुक्त कैसे हुए ?

विदूषक—अपने ही ब्राह्मणत्व के प्रभाव से।

राजा—फिर भी कैसे ?

विदूषक—मत्र की सिद्धि होने पर कैसे क्या ?

---

१ दुरपनोदामार्ग मू॰ पा॰। २ इदमपि मू॰ पा॰। ३ ए मू॰ पा॰।

राजा—अलं परिहासेन । स्फुटं कथय ।

विदूषकः-किमन्यत् ? बन्धुकुलजनागमनहर्षेण तथा अनुचिततिरस्कृतं त्वामेवाद्य आश्वासयितुम् । (किं अण्णं । बन्धुउलजणागमणहरिसेण तहा अणुइदं तुम्हं एव्व अज्ज आसासदुं ।)

राजा—उचितमेवेदं तथाभिजात्यस्य देव्याः । कः कोऽत्र भोः ?

[प्रविश्य कञ्चुकी]

कञ्चुकी—आज्ञापयतु देवः ।

राजा—कञ्चुकिन् ! निवेद्यताममात्यः–सत्वरमभ्यन्तरस्थानमणिमण्डपसज्जीकरणाय निषेधाय च सकलपुरुषाणाम् । आहूयतां च माधविका ।

कञ्चुकी-यदाज्ञापयति देवः ।(यद् आणवेदि देवो) [इति निष्क्रान्तः]

स्पष्टम् । बन्धुकुलजनागमनहर्षेण—बान्धवजनानामागमनजन्याह्लादेन , अनुचिततिरस्कृतम्—अनुचितप्रकारेण अपमानितम् , आश्वासयितुम्—सान्त्वयितुम् । आभिजात्यस्य–कुलीनतायाः ।

अमात्यः—मन्त्री , निवेद्यता—कथ्यताम् , सत्वरं—शीघ्रम् , अभ्यन्तरस्थानमणिमण्डपसज्जीकरणाय—अन्तःपुरवर्तिमणिमण्डपालङ्करणाय , सकलपु-

---

राजा—मजाक मत करो , स्पष्ट बताओ ।

विदूषक—और क्या ? बन्धुजनों के आगमन से उत्पन्न हर्ष के कारण, उस प्रकार अनुचित ढंग से अपमानित किये गये आप ही को आज आश्वासन देने के लिए ।

राजा—यह महारानी की कुलीनता के अनुरूप ही है । यहाँ कौन है जी !

[कंचुकी प्रवेश करता है]

कंचुकी—आज्ञा दें महाराज ।

राजा-कंचुकी! मन्त्री से कहो कि अभ्यन्तरस्थानमणिमण्डप को तुरन्त सजवाएँ और अन्य सभी लोगों का वहाँ जाना रोक दें। और माधविका को बुलाओ ।

कंचुकी—महाराज की जो आज्ञा । [कहकर जाता है]

[प्रविश्य माधविका]

माधविका–[सप्रणामम्] जयतु जयतु भर्ता। (जेदु जेदु भट्टा।)

राजा–माधविकेऽवश्यमिदानीं खलु देव्या निदेशेनाभ्यन्तरमणिमण्डपं प्रसाधयाम। तदाहूयतां तत्रैव देवी।

माधविका–यदाज्ञापयति भर्ता। (जं आणवेदि भट्टा।)

[इति निष्क्रान्ता]

राजा–सखे! तद्दर्शय पन्थानं मणिमण्डपस्य।

विदूषक–एतु एतु प्रियवयस्य। (एदु एदु पिअवअस्सो।)

[इत्युभौ परिक्रामतः]

विदूषक–पश्यतु, पश्यतु प्रियवयस्य, एष तेऽभ्यन्तरस्थानमणिमण्डपालङ्कृतः सौधः। (पेक्खदु पेक्खदु पिअवअस्सो। एसो तुह अब्भंदरत्थाणमणिमंडवालंकिदो सोहो।)

राजा–[विलोक्य सहर्षम्] अये, कथमयम्,—

रुपाणां—समस्तजनानां, निषेधाय—निवारणाय, च। आहूयताम्—आकार्यताम्। निदेशेन—आज्ञया, प्रसाधयाम—विभूषयाम। पन्थानं—मार्गम्। सौधः—प्रासादः।

[माधविका प्रवेश करती है]

माधविका–[प्रणाम करके] महाराज की जय हो।

राजा–माधविका! देवी की आज्ञा से अभी मैं निश्चित रूप से अभ्यन्तरमणिमण्डप में चलूंगा। देवी को वहीं बुलाओ।

माधविका–स्वामी जो आज्ञा दें।

[कहकर चली जाती है]

राजा–मित्र! मणिमण्डप का मार्ग बताओ।

विदूषक–इधर से आएँ मित्र! इधर से।

[दोनों चलते हैं]

विदूषक–देखो, देखो प्रियमित्र! यह है आपका सज्जित अन्तःपुर का मणिमण्डप।

राजा–[देखकर प्रसन्नता से] अरे! कैसे यह —

दीप्तोऽनन्तमणिप्रभाभिरभितः पातालशङ्काकरो
भास्वत्काञ्चनभूभृदञ्चितरुचिर्भूलोकतुल्याकृतिः ।
आसीनः सुमनश्चयेन सुरभिः स्वर्लोकजातोपम-
स्त्रैलोक्यानुकृतिं तनोति नितरामास्थानसौधो मम ॥४॥

विदूषकः—तत् त्वमिदानीम् एतमाक्रम्य अनुकुरु महेन्द्रत्वम् (ता तुमं दाणिं एदं आक्कम्मिअ अणुकरेहि महिंदत्तणं ।)

[इत्युभौ आरोहणं[1] नाटयतः]

(मम आस्थानसौधः) अभितः—समन्तात्, अनन्तमणिप्रभाभिः—असंख्यमणिकान्तिभिः, पातालशङ्काकरः—पातालभ्रमोत्पादकः (पाताले मणिभूषिताः अनन्ताः अनन्तादयो वा नागा निवसन्ति इति श्रूयते), भास्वत्काञ्चनभूभृदञ्चितरुचिः—प्रकाशमानस्वर्णगिरेः इव अञ्चिता महनीया रुचिः कान्तिः यस्य तादृशः (सन्), भूलोकतुल्याकृतिः—पृथ्वीलोकसमरूपवान्, सुमनश्चयेन—पुष्पराशिना, सुरभिः—सुगन्धिः, आसीनः—वर्तमानः, मम, आस्थानसौधः—मणिमण्डपप्रासादः, त्रैलोक्यानुकृतिं—त्रिलोक्याः अनुकरणं, नितरां—सुतरां, तनोति—विस्तारयति । अत्र शार्दूलविक्रीडितं छन्दः ॥४॥

आक्रम्य—आरुह्य, महेन्द्रत्वम्—इन्द्रपदवीम्, अनुकुरु—धारयेत्यर्थः ।

मेरा अन्तःपुर तो पूर्णतः त्रिलोक की समानता धारण कर रहा है—अनन्त मणियों का प्रकाश चारों ओर छिटक रहा है जैसे पाताल लोक हो (अनन्त मणियों में सर्प-मणि की कल्पना है), भूलोक के समान आकार वाला जैसे सुमेरु पर्वत ही स्वर्ण-प्रकाश के बहाने चमक रहा है (स्वर्ण के असीम प्रकाश में सुमेरु-गिरि की कल्पना है) और पुष्पराशि की सुगंध से प्रतीत होता है जैसे स्वर्गिक वस्तुओं की सुगंध बिखर रही हो ॥४॥

विदूषक—तो तुम इस पर चढ़कर इन्द्र की समानता प्राप्त करो ।

[कहकर दोनों चढ़ने का नाट्य करते हैं ।]

---

१ सारोहणं मू० पा० ।

विदूषक—एत समणिमण्डपस्तम्भमलकरोत प्रियवयस्य ।(एद स माणीम ड वत्थब अलकरेदु पिअवअस्सो ।)

राजा—[नाट्येनोपविश्य] सखे ! उपविश तावत् ।

[विदूषक यथोचितमुपविशति]

[तत प्रविशति सपरिवारा देवी]

देवी—[राजान प्रति] जयतु जयतु आयपुत्र । (जेदु जेदु अ-य्यउत्तो ।)

राजा—प्रिये ! उपविश तावत् ।

देवी—[यथोचितमुपविश्य] आज्ञापयत्वार्यपुत्र मम पितुर्नगर-वन्दिना समागमनाय । (आणवेदु अय्यउत्तो मह पिदुणोणअरवदिण समागअणाए ।)

राजा—क कोऽत्र भो ?

[प्रविश्य कञ्चुकी]

कञ्चुकी—आज्ञापयतु देव ।

पारोहणम् —आक्रमण , नाट्यत —अभिनयत । नाट्येन—नाटकीयतापूर्वकम्।

विदूषक—प्रियमित्र ! अब इस मणिस्तम्भ और मण्डप से युक्त महल को शोभित कीजिए ।

राजा—[बैठने का नाट्य करता हुआ] बैठो मित्र !

[विदूषक उचित रीति से बैठता है]

[इसके बाद परिचारिकाओ समेत महारानी प्रवेश करती है ।]

देवी—[राजा के प्रति] जय हो ! आयपुत्र की जय हो !।

राजा—प्रिय ! बैठो ।

देवी—[उचित रीति से बैठकर] पितृनगर से आए हुए वन्दिजनों को आने के लिए आयपुत्र आज्ञा दें ।

राजा—कौन है यहाँ ?

[कचुकी प्रवेश करके]

कचुकी—महाराज आज्ञा दें ।

राजा—कञ्चुकिन्[1] ! त्वरितं प्रवेशय पाण्ड्यदेशागतौ वन्दिनौ।

कञ्चुकी—यदाज्ञापयति देवः ।

[इति निष्क्रम्य वन्दिभ्यां सह प्रविशति[2]]

वन्दिनौ—[राजानं प्रति दूरतः सप्रणामं करावुन्नमय्य] जयतु जयतु देवः । देव, ब्रह्मायुर्भव ।

मूर्द्धव्याधूयमानध्वनदमरधुनीलोलकल्लोलजालो-
द्धूताम्भः क्षोददम्भात् प्रसभमभिनभःक्षिप्तनक्षत्रलक्षम्[3] ।

करौ—हस्तौ , उन्नमय्य—उपरिकृत्वा । ब्रह्मायुः—ब्रह्मणः सदृशम् आयुः अथवा ब्रह्मदिनपर्यन्तमाकल्पान्तमिति यावत् आयुः वयः यस्य तादृशः ।

मूर्द्धव्याधूयमानध्वनदमरधुनीलोलकल्लोलजालोद्धूताम्भःक्षोददम्भात्—मूर्धनि मस्तके व्याधूयमाना शरीरसञ्चलनेन सञ्चाल्यमाना अतएव ध्वनन्ती शब्दायमाना या अमरधुनी गङ्गा तस्याः लोलात् चञ्चलात् कल्लोलजालात् महातरङ्गसमूहात् उद्धूतानामुत्क्षिप्तानाम् अम्भः क्षोदानां जलविन्दूनां दम्भात् छलात् , अभिनभः—नभसि , प्रसभं—हठात् , क्षिप्तनक्षत्रलक्षम्—क्षिप्तं विकीर्णं नक्षत्राणां ताराणां लक्षं समूहो यस्मिन् तादृशम् , ऊर्ध्वंन्यस्ताङ्घ्रिदण्डभ्रमिभररभसोद्यद्नभस्वत्प्रवेशभ्रान्तब्रह्मा-

राजा—कंचुकी ! पाड्यदेश से आये दोनो बन्दिजनों को शीघ्र बुलाओ ।

कंचुकी—महाराज की जो आज्ञा ।

[कहकर जाता है और फिर दोनो बन्दिजनो के साथ प्रवेश करता है]

दोनों वन्दी—[राजा के प्रति—दूर से ही प्रणाम सहित हाथों को उठाकर] जय हो, देव की जय हो ! ! ब्रह्मा की आयु देव को प्राप्त हो ।

पहला—गंगा की चचल तरगमालाएँ जो सिर के ऊपर घूमती रहती हैं और उनसे छिटकते हुए जल-कणों से मालूम पड़ता है , जैसे लाखों तारे आकाश में फेंके जा रहे हों , ऐसी शोभा से युक्त और ऊपर उठे हुए पैर के घूमने से उत्पन्न प्रचण्ड वायु के चक्कर में जैसे ब्रह्माण्ड ही घूमने लगता है ,

१ कञ्चुकिन् मू० पा० । २ प्रविशति मू० पा० । ३ लक्षम् मू०पा०

ऊर्ध्वं[1]न्यस्ताङ्घ्रिदण्डभ्रमिभर[2] रभसोद्यन्नभस्वत्[3] प्रवेश-[4]।
भ्रान्तब्रह्माण्डखण्ड प्रवितरतु शुभं[5] शाम्भवं ताण्डवं ते ॥५॥

विश्वस्ताः कटकच्छन्ना मुक्ताहारविभूषणाः ।
अरोपेऽपि सरोपेऽपि त्वयि देव रिपुस्त्रियः ॥६॥

अपरः—

अलिकुललुहिलकलाले तुह कलवाले गता पलिभिन्ने
कुलति पिअनुगपेसं निगपलपति पिम्पकेत पाशुपाले ॥७॥
(अरिकुलरुधिरकराले तव करवाले
कुलस्त्री पाशुपाले ॥७॥

ण्डखण्डम्—ऊर्ध्वं न्यस्तः उत्तोलितः यः अङ्घ्रिदण्डः चरणदण्डः तस्य या भ्रमिः घूर्णनं तस्याः भरेण आतिशय्येन उत्पन्नो यो रभसः वेगः तेन उद्यत् उत्पद्यमानो यो नभस्वान् वायुः तस्य प्रवेशेन भ्रान्तं घूर्णितं ब्रह्माण्डखण्डं यस्मिन् तादृशं . शाम्भव—शम्भुसम्बन्धि , ताण्डवम्—उद्धतनृत्यं, ते—भवतः , शुभ—मङ्गल , प्रवितरतु—अर्पयतु । अत्र स्रग्धराच्छन्दः ॥५॥

देव! —महाराज !, त्वयि—भवति , अरोपेऽपि—अकुपितेऽपि , सरोषेऽपि—क्रुद्धेऽपि (सति) रिपुस्त्रियः—शत्रुनार्यः , कटकच्छन्नाः—कङ्कणावृताः , मुक्ताहारविभूषणाः—मुक्तामालालङ्कृताः (सत्यः) , विश्वस्ताः—विधवाः (भवन्ति) । अत्र अनुष्टुप्छन्दः ॥६॥

अरिकुलरुधिरकराले — अरिकुलाना शत्रुसमूहाना रुधिरेण रक्तेन कराले भयङ्करे , तव=ते , करवाले—खड्गे....................॥७॥

ऐसी शोभा वाले शंकर का ताण्डव नृत्य तुम्हें मंगल प्रदान करे ॥५॥

देव! आपके क्रोध और अक्रोध की ओर बिना ध्यान दिये भी स्वर्ण और मुक्ता के आभूषणों से युक्त शत्रुओं की स्त्रियाँ तुमसे विधवा हो गयी हैं ॥६॥

दूसरा-शत्रु-समूह के शोणित से भयंकर, आपकी तलवार पर......॥७॥

१ उर्द्ध मू० पा० । २ भ्रमिभय मू० पा० । ३ भास्वत् मू० पा० ।
४ प्रवेशत् मू० पा० । ५ शिवं मू० पा० ।

राज्यं मुञ्चति मरहट्ट । कोष कोशलो न पृच्छति । आन्ध्रो[1] विशति गिरिरन्ध्रम् । अङ्गः अङ्गनमपि न पृच्छति । भङ्गः पतति हाभङ्गः । वङ्गः सप्ताङ्गं न सज्जयति । पञ्चगौडः[2] पञ्चत्व लभते । गुर्जरो न गर्जति । उत्तालतालकरवालः परिपन्थिशक्तहस्तात् स्खलति अरिराजमत्तगजसिंहजयिन् , पुण्य भवतु हयवरम् आरोहतु ।

राजा—वन्दिनौ ! कुशल पाण्ड्येश्वरस्य ?

वन्दिनौ—देवस्य प्रसादेन कुशलमेव सप्तस्वङ्गेषु नः स्वामिनः । किन्त्वेतदेव दारुणं दु समधिगत्य सकलमेव सुख दुःखमेव मन्यमानो वर्तते नो भर्ता ।

मरहट्ट.—मरहट्टनरेशः । कोशल.—कोशलपति. । आन्ध्र.—आन्ध्रदेशाधिपतिः , गिरिरन्ध्रम्—गिरिगुहाम् । अङ्गः—अङ्गदेशाधिपतिः, अङ्गनमपि—राज्यसीमानमपि । हाभङ्ग.—हावङ्गनरेशः । वङ्ग.—वङ्गेश्वरः , सप्ताङ्गं—राज्यस्य सप्ताङ्गानि—राजा , मन्त्री, मित्र, कोश., राष्ट्र, दुर्ग , सेना इत्यादीनि , न सज्जयति—न सज्जीकरोति । पञ्चत्व—मृत्युम् । उत्तालतालकरवालः—भयानकखड्गः , परिपन्थिशक्तहस्तात्—शत्रोः क्षमहस्त त् , स्खलति—पतति । अरिराजमत्तगजसिंहजयिन्—हे महाशत्रुरूपमत्तगजस्य सिंहरूपेण विजेत: ! पुण्यं—कल्याणं, हयवरम्—अश्वश्रेष्ठम् । दारुणं—भीषणम्, अधिगत्य—प्राप्य ।

मरहट्टराज अपना राज्य त्याग रहे हैं । कोशलनरेश खजाने की चिन्ता नहीं कर रहे हैं । आन्ध्रनरेश पर्वत की गुफा में प्रवेश कर रहे हैं । अंग-नरेश राजसीमा की इच्छा छोड़ रहे हैं । हावग-नरेश पतित हो रहे हैं । वगपति अपनी सेना के सप्तागो को नही सजा रहे हैं । पञ्चगौड-नरेश मृत हो रहे हैं । गुर्जरपति गरज नहीं रहे हैं । शत्रु के शक्तिशाली हाथ से भयानक तलवार गिर रही है । हे महाशत्रु रूपी गजराज को पछाड़ने वाले सिंह ! आपका कल्याण हो और आप उत्तम अश्व पर आरोहण करें ।

राजा—बन्दियो ! पाण्ड्येश्वर कुशल हैं ?

दोनों बन्दी—महाराज की कृपा से स्वामी सब भाँति कुशल हैं ; किन्तु

---

१ आन्ध्री मू० पा० । २ पञ्चगउडः मू० पा० ।

देवी—अहो, किंनु मम तातस्य दारुण दुःखम् ?

वन्दिनौ—यत्किल वनविहारावसरे देव्याः समानोदरप्रभा काचित्कुमारिका केनचिदपहृत्य नीता।

आभरण भुवनाना कपण निर्माणनैपुण्यस्य विधेः।
मदन युवनयनाना निवासभवन सुलक्षणाना सा ॥८॥

देवी—[सास्रम्] भगिनि ! कुतः पुनर्वर्तसे[१] ? (भगिणि, कुदो उणवट्टदि)

राजा—वन्दिन् ! तदानीमन्विष्यते नैव सा ?

वनविहारावसरे—वने विहरणकाले, समानोदरप्रभा—सहोदरा तुल्यकान्तिमती च, अपहृत्य नीता-अपहरणं कृत्वा अन्यत्र प्रापिता।

सा—तव भगिनी, भुवनाना—चतुर्दशलोकानाम्, आभरणम्-आभूषण, विधेः—विधातुः, निर्माणनैपुण्यस्य—रचनाकौशलस्य, कषणं—शाण., युवनयनाना—युवकनेत्राणा, मदनम्—आनन्ददायिका, सुलक्षणानाम्—उत्तमगुणाना, निवासभवनम्—आवासस्थलम् (आसीत्)। अत्र गीतिकाच्छन्दः ॥८॥

भगिनि—हे स्वसः ! । तदानी—तस्मिन् समये । प्रहिताः—प्रेषिताः,

यही दारुण दुःख पाकर समस्त सुखो को दुःख की भाँति ही हमारे स्वामी मान रहे हैं।

देवी—अहो! पिताजी के लिए कौनसा दारुण दुःख है ?

दोनों बन्दी-यही कि वन-विहार के समय देवी की सहोदरा प्रभा नामक कुमारी किसी के द्वारा हरण कर ली गई।

वह संसार के लिए भूषण, विधाता की रचनानिपुणता की कसौटी, युवकों के नेत्रो को मत्त करने वाली और सुलक्षणो की खान है ॥८॥

देवी-[आँसू के] बहिन ! अब तुम कहाँ हो ?

राजा—बदी! क्या वह ढूढ़ी नही जा रही है ?

---

१ वर्तसे मू० पा०।

बन्दिनौ—सर्वतः खलु तदन्वेषणाय प्रहिताश्चारद्विजवन्दिनो भर्त्रा[1]।

राजा—तदेतावन्तं कालम् अधिगतो नवाऽनन्तरो वृत्तान्त एतस्याः।

बन्दिनौ—अवधारयतु देवः। अनन्तरमान्ध्रदेशप्रहितैः प्रतिनिवृत्याऽस्मत्स्वामिपुरतो विप्रवर्यैः कथितम्। एषा किल वनविहारक्रीडावशेन[2] कुतोऽपि संहृतिभ्रष्टा एकाकिनी केनचिच्छवरेणाधिगत्यान्ध्रदेशारण्यवासिने निजस्वामिने समर्पिता।

देवी—[ससंभ्रमम्] भो भगिनि! त्वमपि विन्ध्यवासिन्या उपहारीभविष्यसि?

चारद्विजवन्दिनः—चाराः गुप्तचराः द्विजाः ब्राह्मणाः वन्दिनः स्तुतिपाठकाः, भर्त्रा—स्वामिना। अनन्तरः—पश्चात्कालीनः। अवधारयतु—शृणोतु; आन्ध्रदेशप्रहितैः—आन्ध्रदेशे प्रेषितैः, प्रतिनिवृत्य—परावृत्य, अस्मत्स्वामिपुरतः—अस्माकं स्वामिनः अग्रे, विप्रवर्यैः—द्विजवरैः। वनविहारक्रीडावशेन—वनविहरणक्रीडाभिमानेन, संहृतिभ्रष्टा—समूहात् पृथग्भूता, शवरेण—किरातेन, आन्ध्रदेशारण्यवासिने—आन्ध्रदेशस्थवने निवासं कुर्वते। विन्ध्यवासिन्याः—विन्ध्यारण्यस्थितायाः भगवत्याः, उपहारीभविष्यसि—बलिर्भविष्यसि। शवराधिपेन—

दोनों बन्दी—स्वामी ने सर्वत्र गुप्तचर, ब्राह्मण और बंदियों को उसको ढूँढ़ने के लिए भेज दिया है।

राजा—तो इतने समय में पता नहीं लगा कि उसका क्या हुआ?

दोनों बन्दी—देव! सुनें—आन्ध्रदेश को भेजे गये ब्राह्मणों ने लौटकर स्वामी को बताया है कि वह वन-विहार की क्रीडा में लीन हो अपने संहतियों से छूटकर अकेली हो गई और किसी शबर (जंगली मनुष्य) ने लेकर उसे अपने स्वामी को समर्पित कर दिया।

देवी—[व्याकुल होकर] बहिन! क्या तुमभी विन्ध्यवासिनी (देवी) के लिए उपहार बन जाओगी?

---

१ भत्रा मू० पा०। २ क्रिडावशेन मू० पा०।

वन्दिनौ—ततः शबराधिपेन कृष्णपक्षचतुर्दशीपूजनीयाया विन्ध्यवासिन्या समुचितोऽयमुपहार इति सहर्षमात्मनो निवेशने स्थापिता।

देवी—[निःश्वस्य सोद्वेगम्] भो भगिनि ! त्वमपि विन्ध्यवासिन्या उपहारीभविष्यसि ? (भगिणि तुमं वि विञ्झवासिणीए उवहारी हुविस्ससेदि)

[इति रोदिति]

राजा—वन्दिन् ! कथय ततस्ततः !

वन्दी—अनन्तरं कृष्णपक्षचतुर्दश्यां भगवत्या विन्ध्यवासिन्याः पुरस्तादुपवेश्य उद्यमितनिशितकरवालैककरेण शबरस्वामिना इतरकरेण केशेष्वाकृष्य कुररीव सकरुणं सोद्वेगमुच्चकैः रुदन्ती 'कुमारिके ! स्मरेष्टदेवताम्' इतीयं भणिता।

किरातपतिना, कृष्णपक्षचतुर्दशीपूजनीयाया—कृष्णपक्षस्य चतुर्दश्यां तिथौ पूजा कर्तुं योग्यायाः, उपहारः—नैवेद्यम्, निवेशने—गृहे, स्थापिता—रक्षिता। पुरस्तात्—अग्रे, उद्यमितनिशितकरवालैककरेण—उद्यमितः उत्तोलितः निशितः तीक्ष्णः करवालः खड्गः एकस्मिन् करे येन तादृशेन, केशेष्वाकृष्य—कुमारिकायाः केशान् गृहीत्वेति यावत्, कुररीव—कुररीपक्षिणीव, उच्चकैः—तारस्वरेण, रुदन्ती—क्रन्दन्ती, भणिता—कथिता।

दोनों वन्दी—उसके बाद शबर स्वामी ने उसे कृष्णपक्ष की चतुर्दशी के अवसर पर पूजनीय विन्ध्यवासिनी के लिए उपयुक्त उपहार के रूप में मानकर हर्ष के साथ अपने घर में रख लिया।

देवी—[आह भरकर उद्वेग के साथ] बहिन ! तुम भी विन्ध्यवासिनी के लिए उपहार हो जाओगी ?

[कहकर रोने लगती है]

राजा—वन्दी ! कहो, उसके बाद क्या हुआ ?

वंदी—पश्चात् कृष्ण पक्ष की चतुर्दशी को शबर स्वामी ने एक हाथ से उसके केशों को और दूसरे में नंगी तलवार लिए, उसको विन्ध्यवासिनी के सामने उपस्थित किया। वह व्याकुल होकर जब कुररी पक्षी की तरह करुण क्रन्दन करने लगी तब उसने उससे कहा—'कुमारी ! अपने इष्टदेव का स्मरण कर'।

देवी—[सोद्वेगं सास्रम्] हा भगिनि! अवसानमपि गच्छसि। (हा बहिणि, ओसाणपि गच्छेसि।)

[इति शिरस्ताडयन्[1] उच्चकैः रोदिति]

राजा—प्रिये! समाश्वसिहि, समाश्वसिहि। पृच्छाम्यस्तावदुपरितनवृत्तान्तम्।

देवी—पृच्छत्वार्यपुत्र। अहं पुनरात्मनोऽपि न प्रभवामि। (पुच्छेदु अय्यउत्तो। अहं उण अत्तओ वि ण पहवम्हि।)

राजा—वन्दिन्! कथय ततस्ततः?

बन्दी—ततो यात्राप्रहितस्य तत्र भवतो देवस्य विक्रमाभरणाख्यस्य सेनापतेः केनचिद्विन्ध्यवासिनी दर्शनार्थं गतवता खड्गधारिणा अनुचरपुरुषेण समालोक्य तं दुरात्मानं शबरस्वामिनं देव्या प्रत्युपायनीकृत्य समानीय सेनापतये निवेदिता। तेन च श्रीमतः साम्राज्याधिकृतस्य श्रीमदमात्यसुबुद्धेः सम्मुखं[3] प्रहितेयमिति कथितमस्मत्स्वामिपुरतो विप्रवर्यैः।

अवसानमपि—समाप्तिमपि मृत्युमिति यावत्। उपरितनवृत्तान्तम्—अग्रिमसमाचारम्। आत्मनोऽपि न प्रभवामि—स्ववशे नास्मि। यात्राप्रहितस्य—यात्रायां प्रचलितस्य, प्रत्युपायनीकृत्य हत्वेति यावत्, निवेदिता—समर्पिता। साम्राज्याधिकृतस्य—राज्याधिकारिणः, प्रहिता—प्रेषिता। किं प्रतिवचनम्—

देवी—[व्याकुल होकर अश्रुपूर्णनयनों से] हाय बहिन! तुम मर रही हो!

[सिर पीटती हुई ज़ोर-ज़ोर से रोती है]

राजा—प्रिये! धीरज रखो, धीरज। इसके आगे का वृत्तान्त पूछता हूँ।

देवी—पूछिए आर्यपुत्र। मैं वास्तव में अपने वश में नहीं हूँ।

राजा—वंदी! आगे क्या हुआ? बताओ।

दोनों वंदी—इसके बाद आपके सेनापति विक्रमाभरण के एक अनुचर ने जो हाथ में तलवार लेकर विन्ध्यवासिनी के दर्शनार्थ उधर ही गया हुआ था, उसे देखा और उस दुरात्मा शबर-स्वामी को मारकर राजकुमारी को ला सेनापति को दे दिया। उस सेनापति ने फिर आपके सुबुद्धि नामक मंत्री को लाकर समर्पित किया, ऐसा ब्राह्मणों ने हमारे स्वामी को बताया है।

---

१ शिरस्ताडमुच्चकैः मू०पा०। २ पृच्छाम मू०पा०। ३ सम्मुख मू०पा०।

देवी—[निःश्वस्य सानन्दम्] वन्दिवर! गृहाणेदं पारितोषिकम्। [इति वन्दिने आभरणानि दत्त्वा] तत् कथय एतं वृत्तान्तं श्रुत्वा किं प्रतिपन्नं पित्रा। (वंदीअर, गेण्ह एद पालितोसिअं। ता कहेहि। एद वुत्तंत्तं सुणिअ किं पडिवण्णं पितुएण।)

बन्दी[1]—शृणोतु भर्तृदारिका[2]। अनन्तरंचैवं[3] निवेद्य प्रहिता वयं श्रीमतश्चरणसन्निधिं पाण्ड्येश्वरेण। एषा खलु सकलभूपालमौलिमणिरञ्जितचरणारविन्दस्य मे जामातुश्चित्ररथदेवस्यैवोचिता। तदमात्यस्य गोचरेण सुविहितं विधिना। तदिदं द्विजनिवेदितं यदा च वसन्तलेखा अनुजानाति तदा मदनुमतमेव गृह्णातु पाणिमस्या देवः।

किं कृतम्। भर्तृदारिका—राजकुमारी। सकलभूपालमौलिमणिरञ्जितचरणारविन्दस्य—सकलानां भूपालानां राज्ञां मौलिमणिभिः मुकुटमणिभिः रञ्जितौ रक्तीकृतौ चरणारविन्दौ यस्य तादृशस्य। अमात्यस्य—मन्त्रिणः, गोचरेण—विषयेण संरक्षणेनेति यावत्, विधिना—विधात्रा, सुविहितं—साधु कृतम्। वसन्तलेखा—चित्ररथदेवस्य पत्नी महाराज्ञी, अनुजानाति—अनुज्ञां ददाति, मदनुमतम्—मया आदिष्टम् अस्याः पाणिं गृह्णातु—अनया विवाहं करोतु।

देवी—[आनन्द की साँस लेकर] हे श्रेष्ठ वन्दी! यह पुरस्कार ग्रहण करो। [कहती हुई वन्दी को आभूषण देकर] बताओ कि पिताजी ने क्या किया?

बंदी—सुनिए राजकुमारीजी! तब पाण्ड्येश्वर के द्वारा हम लोग आपके चरणों में यह कहकर भेजे गये हैं कि यह कन्या हमारे जामाता चित्ररथदेव के ही उपयुक्त है, जिनके चरण-कमल समस्त राजाओं के मुकुट मणियों से शोभित रहते हैं। तो मन्त्री (सुबुद्धि) की देख-रेख में उपस्थित कर विधाता ने ठीक ही किया। अब यदि ब्राह्मणों के इस निवेदन पर वसन्तलेखा अपनी अनुमति दे तो मेरी आज्ञा से ही महाराज इससे विवाह कर लें।

---

१ अयं मू० पा० नास्ति। २ भर्तृदारिका मू०पा०। ३ चैव मू०पा०।

देवी—आर्यपुत्र ! तदिदानीम् अमात्यमेवाकारयित्वा[1] पृच्छतु[2] कुत एषा इति । (अय्यउत्त, ता दाणी अमच्चंएव्व आकारिअ पुच्छदु । कुदो एसा त्ति ।)

राजा—कञ्चुकिन् ! आहूयताममात्यः ।

कञ्चुकी—यदाज्ञापयति देवः[3] ।

[इति निष्क्रम्य अमात्येन सह प्रविशति]

अमात्य.—[राजानमवलोक्य] अये, कथमिह महाराजः ।

हरिरिव विबुधाभिनन्दितोऽसौ शिशिरमरीचिरिवाश्रयः कलानाम् ।
तपन इव परा सहप्रतापः शिव इव भूतिविभूषितो बिभर्ति ॥६॥

आकारयित्वा—आहूयित्वा ।

विबुधाभिनन्दितः—विबुधैः पण्डितैः (विष्णुपक्षे देवैः) अभिनन्दितः प्रशंसितः, हरिः इव—विष्णुः इव, कलानाम्—चतु षष्टिकलानाम् (चन्द्रपक्षे षोडशकलानाम्) शिशिरमरीचिः इव—चन्द्रः इव , सहप्रतापः—प्रतापेन तेजसा सहितः , तपन इव—सूर्यं इव , भूतिविभूषितः—भूत्या ऐश्वर्येण (शिवपक्षे भस्मना) विभूषितः अलङ्कृतः , शिव इव—शङ्कर इव, असौ—राजा परा प्राधान्य शोभां वा , बिभर्ति—धारयति ॥६॥

देवी—आर्यपुत्र ! मंत्री को बुलाकर पूछिए कि इस समय वह कुमारी कहाँ है ?

राजा—कञ्चुकी ! मन्त्री को बुलाओ ।

कञ्चुकी—महाराज की जैसी आज्ञा ।

[ऐसा कहकर चला जाता है और पुनः मन्त्री के साथ प्रवेश करता है]

मंत्री—[राजा को देखकर] अहो, महाराज यहाँ क्यों ?

ये तो बिबुधों (विद्वानों) द्वारा अभिनन्दित विष्णु के समान, कलाओं (गुणों) के आश्रय शीतरश्मि चन्द्रमा के समान, प्रताप (शौर्य-प्रताप) से युक्त सूर्य के समान तथा भूति (ऐश्वर्य) से विभूषित शिव के समान शोभा को धारण कर रहे हैं ॥६॥

---

१ अमात्य एवाकारयित्वा मू० पा० । २ पृच्छतु मू० पा० । ३ देव मू० पा० ।

[दूरत: सप्रणामम्] जयतु जयतु देव: ।

राजा—सुबुद्धे ! अलमनेन अन्तरङ्गस्य मतस्य भवतोऽपसरणेन। तदेह्येहि । इत एवोपविश तावत् ।

अमात्य —[सविनयमुपसृत्य यथोचितमुपविशति]

राजा—सुबुद्धे ! कथयतु कुत एषा कन्यका या खलु विक्रमाभरणेन ते प्रेषिता ?

अमात्य —देव ! कथं नाम स्वामिनोऽपि सम्मुखे वितथालाप ! तदवधारयतु देव.। इयं तु गुणाधिकारलक्षणैरनन्यरूपेत्याकलय्य तत्काले तु,—

यस्तु भूमिपतिर्भूमौ पाणिमस्या ग्रहीष्यति[1] ।

लक्ष्मीः स्वयमुपागत्य वरमस्मै प्रदास्यति ।।

इत्यमानुषा[2] गिरमाकर्ण्य स्वामिने देया[3] परिणायनीयेत्याकाङ्क्ष-

---

अन्तरङ्गस्य मतस्य—अतिनिकटवर्तिन परमात्मीयस्येत्यर्थः, अपसरणेन—दूरोपवेशनेनेत्यर्थः। वितथालाप —असत्यभाषम् । अवधारयतु—शृणोतु । गुणाधिकारलक्षणै' अनन्यरूपा—सर्वगुणसम्पन्ना सुलक्षणा अनुपमसुन्दरी च, आकलय्य—विचार्य । अमानुषा गिरम्—आकाशवाणीम् , आकर्ण्य—श्रुत्वा,

---

[दूर से प्रणाम सहित , देव की जय हो , जय हो]

राजा—सुबुद्धि ! तुम हमारे परम अन्तरग हो, इसलिए दूर जाकर बैठना ठीक नहीं । आओ , यहीं बैठो ।

मंत्री—[नम्रता पूर्वक निकट आकर बैठता है]

राजा—सुबुद्धि ! बताओ, वह कन्या कहाँ है , जिसे विक्रमाभरण ने तुम्हारे पास भेजा था ।

मंत्री—देव ! स्वामी से असत्य क्यों कहूँ ? सुनें देव ! यह अलौकिक गुणों से युक्त अनुपम सुन्दरी है –ऐसा सोचकर और उसी समय—

पृथ्वी पर का जो भी राजा इसका पाणिग्रहण करेगा उसके लिए लक्ष्मी स्वयं आकर वर प्रदान करेंगी ।

—यह आकाशवाणी सुनकर' स्वामी को दे दूं और उनसे विवाह करा दूं

---

१ ग्रहिष्यति मू० पा० । २ प्रदास्यतीत्यमानुषा मू० पा० । ३ देयं मू० पा० ।

प्रमाणेन[1] देवी प्रकोपभीरुणा च स्वयमशक्नुवता[2] च मया मम वश-श्येय सखीपदे स्थापनीयेति देव्या समर्पिता, तथा चान्त पुरचारिणी मिमामवलोक्य स्वयमेव परिणेष्यति महाराज इति ।

[राजा देव्या मुखमवलोकयति]

देवी—आर्यपुत्र ! या किल एतेन समर्पिता सैवैषा । पृच्छ[3] तावत् वन्दिन किंनामधेया सा मे भगिनीति । (अय्यउत्त, जा किर एदेण समप्पिदा सा एव्व एसेति पुच्छ दाव व दिण किं णामवेआ एसा मह भहिणि त्ति ।)

राजा—वन्दिन् ! किंनामधेया सा पाण्ड्येश्वरस्य दुहिता ?

वन्दी—देव ! चन्द्रकलेति ।

राजा—[निशम्य सानन्द स्वगतम्] मम प्रिय तमा चन्द्रकलैव । -[विचिन्त्य] सत्यमेतत् ।

परिणायनीया-विवाहयितव्या , देवीप्रकोपभीरुणा-देव्या । महाराज्या प्रकोपात् क्रोधात् भीरुणा बिभ्यता , वशजा —कुलोत्पन्ना, देव्या समर्पिता—देव्यै दत्ता । अत्र सम्बन्धमात्रविवक्षया षष्ठी । अन्त पुरचारिणीम् —अन्त पुरे इतस्ततो गच्छन्तीम् , परिणेष्यति—विवाह करिष्यति ।

इस इच्छा से , देवी के भय स भीरु स्वय को असमर्थ जानकर मेरे वश की है कहकर सखी रूप मे प्रतिष्ठित करके रखने के लिए देवी को सौंप दिया, जिस से अन्त पुर मे रहते हुए इसे देखकर महाराज स्वय ही परिणय कर लेगें ।

[राजा देवी का मुख देखता है]

देवी—आर्यपुत्र ! जो इन्होंने समर्पित की थी , वही यह कन्या है । वदी से पूछें कि मेरी वहिन का क्या नाम है ।

राजा—वदी ! पाण्ड्येश्वर की उस पुत्री का क्या नाम है ?

वन्दी—महाराज ! चन्द्रकला (नाम है) ।

राजा—[सुनकर आनन्द के साथ अपने मन म] मेरी प्रियतमा ही चन्द्रकला हैं । [सोचकर] यह सत्य है कि –

१ माणे मू०पा० । २ स्वयमशक्नुवानेन मू० पा० । ३ पृच्छ मू० पा० ।

कनक मणिगणखचित घनसारो वासित कुसुमै ।
द्राक्षामृतेन सिक्ता चन्द्रकलाया कुले जनिर्महति ॥१०॥

देवी—[निशम्य स्वगतम्] अहो, किं खलु भणिष्यति मे तथा निर्घृणानि आचरितानि श्रुत्वा मातापितरौ । [प्रकाशम्] आर्यपुत्र ! तदिदानीम् एतयो पुरो दर्शयित्वा ज्ञातव्य या मम अमात्येन समर्पिता एषा सा नवेति । (अहो, किं क्खु भणिस्सदि मह तहा णिग्घिणाणि आअरिदाइं सुणिय जणआ। अय्यउत्त, ता दाणिं एदयो पुरो दंसिअ जाणव्व जा मह अमच्चेण समप्पिदा एसा सा ण वेत्ति ।)

राजा —यद्रोचते भवत्यै ।

कनक—सुवर्णं , मणिगणखचित-मणिगणै रत्नसमूहै खचित जटित (सत् अधिक शोभते) , घनसार —कर्पूरः , कुसुमै-पुष्पै , वासित —सुगन्धित (सन अधिक शोभते) , द्राक्षा—मृद्वीका , अमृतेन—सुधया , सिक्ता-क्षरिता (सती अधिक शोभते) , चन्द्रकलाया , जनि –जन्म , महति कुले-उच्चवशे (अधिक शोभते) ॥१०॥

निशम्य-श्रुत्वा । भणिष्यति-कथयिष्यति । निर्घृणानि—निर्दयानि , आचरितानि—आचरणानि । एतयो –र्दनो , पुर – अग्रे । यद्रोचते भवत्यै—भवती यथा प्रसीदतीत्यर्थं । अत्र 'रुच्यर्थाना प्रीयमाण' इति सूत्रेण चतुर्थी ।

जैसे सोना मणियो से जडा जाने पर, कर्पूर पुष्पो से सुवासित किया जाने पर और द्राक्षा (अगूर) अमृत से सिक्त होने पर अधिक शोभित होती है इसी तरह चन्द्रकला उच्च कुल मे जन्म पाकर अधिक शोभित हुई ॥१०॥

देवी—[सुनकर मन मे] हाय ! मेरे निर्दयतापूर्ण कार्यों को सुनकर माता पिता क्या कहेंगे ? [प्रकट] आर्यपुत्र ! तो अब इन दोनो के सामने इसे उपस्थित करके जान लेना चाहिए कि मन्त्री द्वारा समर्पित की गई युवती यही है अथवा नहीं ।

राजा—जो आपको रुचे ।

देवी—[जनान्तिकम्] सखि रतिकले। तदिदानीं त्वं त्वरित गत्वा बन्धनान्मोचयित्वा सज्जीकृत्वा सह सुनन्दनया अत्र आनय चन्द्रकलाम्। (हला, रदिअले, ता दाणि तुम तुवरिद गदुअ व धणादो मुक्किय सज्जिअ सह सुणदणाए एत्थ आणेहि चदअला।)

रतिकला—यदाज्ञापयति प्रियसखी। (ज आणवेदि पिअसही।)

[इति निष्क्रम्य समलङ्कृता सुनन्दनाद्वितीया चन्द्रकलामादाय प्रविशति]

राजा—[विलोक्य सानन्द सस्पृह स्वगतम्]

पञ्चबाणविजयाधिदेवता लोकलोचनचकोरचन्द्रिका।
सृष्टिरद्भुतकरीयमीदृशी निर्मिता कथमिव प्रजासृजा ॥११॥

सज्जीकृत्वा-विभूष्य। सुनन्दनाद्वितीया—सह सुनन्दनयेत्यर्थः।

पञ्चबाणविजयाधिदेवता-कामदेवविजेत्री देवी इव, लोकलोचनचकोरचन्द्रिका-लोकाना जनाना लोचनानि नेत्राणि एव चकोराः चकोरपक्षिणः तेषां कृते चन्द्रिका ज्योत्स्ना (इव), इय—चन्द्रकला, ईदृशी, अद्भुतकरी—आश्चर्यकरी, सृष्टि:— रचना, प्रजासृजा – विधात्रा, कथमिव, निर्मिता—रचिता। अत्र रथोद्धताच्छन्द ॥११॥

देवी—[कान में] सखी रतिकला! तुम शीघ्र जाओ और बन्धन से मुक्त करके सजाकर सुनन्दना के साथ चन्द्रकला को ले आओ।

रतिकला—प्रियसखी की जैसी आज्ञा।

[कहकर चली जाती है, पुन सज्जित चन्द्रकला को सुनन्दना के साथ लेकर प्रवेश करती है।]

राजा—[देखकर आनन्दित हो उत्सुकता पूर्वक मन में]

इस युवती को ब्रह्मा ने किस प्रकार रचा—यह तो कामदेव की विजय की अधिष्ठात्री देवी-सी, लोगों के नेत्र चकोर के लिए चन्द्रमा की भाँति और धरती की अद्भुत रचना सी है ॥११॥

वन्दिनौ—[विलोक्य सानन्द सास्रम्] सान्तः पुरस्य पाण्ड्येश्वरस्य भाग्योदयेन समागतासि नौ नयनगोचरम्।

चन्द्रकला—[विलोक्य बाष्पमुत्सृजति]

देवी—[उत्थाय निविड परिष्वज्य] समाश्वसिहि भगिनि, समाश्वसिहि। अतिनिर्घृणया मया अकारण परिपीडितासि। (समास्ससिहि भगिणि समास्ससिहि। अदिणिग्घिणाए मए अकालण पलिपीडिदस्सि।)

[इत्युभे बाष्पमुत्सृजत]

देवी—[स्वगतम्] अलमिदानी मम पुनरपि तथा कठोरेण व्यवसितेन। स्वयमेव मया आर्यपुत्राय समर्पयितव्या एषा। एव खलु आत्मनो महत्त्वसम्पादन मातापित्रोरपि काङ्क्षितसाधनम्। तथा कदर्थिताया भगिन्या आश्वासन, भर्तुर्जीवितसशयात्परिरक्षण, परम-

---

सान्त पुरस्य—अन्त पुरनिवासिनीसहितस्य, नयनगोचरम्—दृष्टिपथम्। बाष्पमुत्सृजति—रोदिति। निविड—गाढम्, परिष्वज्य—आलिङ्ग्य। अतिनिर्घृणया—अतिनिर्दयया, परिपीडितासि—क्लेशितासि। व्यवसितेन—कार्येण। महत्त्वसम्पादन—गौरववर्धन, काङ्क्षितसाधनम्—इच्छापूर्ति। कदर्थिताया—परिपीडिताया, आश्वासन—सान्त्वनम्, जीवितसशयात्—

दोनो वन्दी—[देखकर आनन्दाश्रु सहित] अन्त पुरवासियों तथा पाण्ड्येश्वर के भाग्य से तुम हम दोनो को दृष्टिगत हुई।

चन्द्रकला—[देखकर आँसू बहाती है]

देवी—[उठकर उसका गाढ आलिंगन करके] धीरज रखो बहिन! धीरज रखो। अत्यन्त निर्दया मैंने अकारण तुम्हें पीडित किया।

[कहकर दोनो आँसू बहाती हैं]

देवी—[मन मे] अब मुझे पुन. वैसा कठोर व्यवहार नही करना चाहिए। बल्कि मुझे स्वय ही इसे आर्यपुत्र को समर्पित कर देना चाहिए। इस प्रकार मेरा महत्त्व बढेगा और माता-पिता की इच्छा पूर्ण होगी। उस प्रकार पीडित की गई बहिन को सान्त्वना मिलेगी, स्वामी के प्राणो की रक्षा होगी

लक्ष्मीसम्पादनं च भवन्ति[1]। [इति चन्द्रकलां करे गृहीत्वा प्रकाशम्] आर्यपुत्र ! श्वशुरयोर्ममापि अनुमत्या करे इदानीं गृहाण एनाम् । (अल दाणिं मह पुणोव्वि तहा कठोरेण वअसिदेण ता सुअ एव्व मए अय्यपुत्तस्स समप्पिदव्वा एसा । एव्व क्खु अत्तणो महत्तणसंवादणं मादापिदराणं कविखदसाणं ताए कदत्थिदाए भगिणीए आसासणं भत्तुणो जीइदससआदो पलिरक्खणं परमलच्छीसआदणं अ होन्ति । अय्यउत्त, मादापिदरा मह पि अणुमदीए करे दाणिं गेण्ह एदां ।)

[इति राज्ञे समर्पयति]

राजा—[सहर्षम्] अहो महाप्रसादो देव्याः । [इति चन्द्रकलां करे गृहीत्वा स्पर्शं नाटयति]

[नेपथ्ये शङ्खध्वनिः, सर्वतो दुन्दुभिशब्दः]

वन्दिनौ—जयतु जयतु देवः । दिष्ट्या चन्द्रकलापाणिग्रहणेन सर्वथाऽनुगृहीतः पाण्ड्येश्वरो देवेन ।

राजा—[सर्वतो विभाव्य साश्चर्यम्] अये, कथमिदानीम्—

प्राणसन्देहात्, परमलक्ष्मीसम्पादनम्—महालक्ष्मीप्राप्तिः । अनुमत्या—अनुरोधेन, एना—चन्द्रकला, गृहाण—स्वीकुरु । महाप्रसादः—महाननुग्रहः ।

और महालक्ष्मी प्राप्त होगी । [चन्द्रकला को हाथ से पकडकर प्रकट रूप से]-आर्यपुत्र ! आप अपने सास-ससुर तथा मेरी अनुमति से इसको स्वीकार कीजिए ।

[कहकर राजा को समर्पित करती है]

राजा—[हर्ष के साथ] अहा ! देवी की बडी कृपा है [कहता हुआ चन्द्रकला को हाथ से पकडकर स्पर्श करने का नाट्य करता है]

नेपथ्य में शंख-ध्वनि होती है और चारो ओर नगाडे का शब्द सुनाई पडता है]

दोनों वन्दी—जय हो, महाराज की जय हो । भाग्य से आपने चन्द्रकला का पाणिग्रहण करके पाण्ड्येश्वर को अनुगृहीत कर दिया ।

राजा—[सब ओर आश्चर्यपूर्वक देखकर] अरे ! इस समय कैसे—

दृश्यन्ते द्युतयोऽपि विद्युत इव श्रूयन्त एतानि च
भ्राम्यद्भृङ्गरुतानि कङ्कणझणत्कारेण मिश्राण्यहो ।
अभ्येति द्विपगण्डमण्डलगलद्दानाम्बुकल्लोलिनी—
गन्धेन द्विगुणीकृत परिमल पाथोरुहाणामपि ॥१२॥

अमात्य—देवदेव ! अहमेव मन्ये इदानीं ननु समदकरिकुलक-
लितकनककलशमुखविगलदविरलपीयूषधाराभिरभिषिच्यमाना कर-

द्युतयोऽपि-प्रकाशा अपि, विद्युत इव—तडित इव, दृश्यन्ते-अवलो-
क्यन्ते, एतानि कङ्कणझण कारेण-कङ्कणशब्देन, मिश्राणि-मिश्रितानि,
भ्राम्यद्भृङ्गरुतानि—भ्राम्यतां भ्रमतां भृङ्गाणां भ्रमराणां रुतानि शब्दाः,
अहो—आश्चर्यं, श्रूयन्ते—आकर्ण्यन्ते, द्विपगण्डमण्डलगलद्दानाम्बुक-
ल्लोलिनीगन्धेन—द्विपानां गजानां गण्डमण्डलात् गण्डस्थलात् गलन्ती क्षरन्ती
दानाम्बुना मदवारिणा कल्लोलिन्या नद्याः गन्धेन द्विगुणीकृत पाथोरुहाणा-
मपि—कमलानामपि, परिमल—सुगन्ध, अभ्येति—सर्वत प्रसरति ।
अत्र शार्दूलविक्रीडितं छन्द ॥१२॥

देवदेव—राजाधिराज !, समदकरिकुलकलितकनककलशमुखविगलदविरल-
पीयूषधाराभि—समदैः मदयुतैं करिकुलैं हस्तिवृन्दै कलितानां धारितानां
कनककलशानां स्वर्णघटानां मुखै विगलन्तीभि क्षरन्तीभिः अविरलाभि सा-
न्द्राभि. पीयूषधाराभि अमृतप्रवाहै, अभिषिच्यमाना—सिच्यमाना, करक-

---

प्रकाश भी बिजली की तरह दिखाई दे रहा है, अहो ! यह कङ्कणों की
झनकार से मिश्रित होकर विचरणशील भौंरों का गुञ्जन सुनाई पड़ रहा है;
(फिर) हाथियो के गंडस्थल से बहते हुए मद की नदियो से द्विगुणित होकर
कमल की सुगंध बिखर रही है ॥१२॥

मंत्री—देवदेव (सम्राट) ! मुझको प्रतीत होता है कि त्रिलोक-सा-
म्राज्य की लक्ष्मी स्वयं, सुलक्षणों से युक्त चन्द्रकला का पाणिग्रहण करने के
कारण आपके पास, हर्षित होकर, मदयुक्त हाथियो द्वारा पकड़े गये सुन्दर-
स्वर्णकलश के मुख से सतत प्रवाहित सुधाधार से अभिषिक्त होती, सुन्दर

कलितकमलपरिमलमिलदलिपटलझंकारमुखरिताशान्तरा प्रणयप्रणतनिखिलसुरासुरमुकुटतटघटितमणिगणकिरणकिर्मीरितचरणनखरा भगवन्मुकुन्दहृदयानन्दसन्दोहकन्दलीकन्दभूता दलितकमलदललोचना क्षपाङ्गतरङ्गविश्राणनाय[1] त्रिभुवनसाम्राज्यलक्ष्मीः साक्षादभ्युपैति भवन्तमस्याः सुलक्षणायाः परिग्रहानन्दवशंवदेति ।

कलितकमलपरिमलमिलदलिपटलझंकारमुखरिताशान्तरा—करे हस्ते कलितस्य धृतस्य कमलस्य परिमलेन सुगन्धेन मिलतः सङ्गतस्य अलिपटलस्य भ्रमरसमूहस्य झंकारेण गुञ्जनेन मुखरितं निनादितम् आशान्तरं दिशामध्यं यया सा तादृशी, प्रणयप्रणतनिखिलसुरासुरमुकुटतटघटितमणिगणकिरणकिर्मीरितचरणनखरा—प्रणयेन प्रेम्णा प्रणतानां नतानां निखिलसुरासुराणां समस्तदेवदानवानां मुकुटतटेषु किरीटप्रान्तेषु घटितानां जटितानां मणिगणानां रत्नसमूहानां किरणैः कान्तिभिः किर्मीरिताः कर्बुरिताः चरणनखराः पादनखाः यस्याः तादृशी, भगवन्मुकुन्दहृदयानन्दसन्दोहकन्दलीकन्दभूता—भगवतः मुकुन्दस्य विष्णोः हृदये चित्ते ये आनन्दाः प्रमोदाः तेषां सन्दोहः समूहः एव कन्दली क्षुपविशेषः तस्याः कन्दभूता मूलभूता, दलितकमलदललोचना—दलितकमलदले विकसितकमलपत्रे इव लोचने यस्याः तादृशी, साम्रात्, त्रिभुवनसाम्राज्यलक्ष्मीः—त्रिलोकीसाम्राज्यश्रीः, अस्याः सुलक्षणायाः—शुभलक्षणसम्पन्नायाः, परिग्रहानन्दवशंवदा—विवाहजन्यानन्दाधीना (भूत्वा) अपाङ्गतरङ्गविश्राणनाय—कृपाकटाक्षदानाय, भवन्तं—त्वाम्, अभ्युपैति—आगच्छति ।

हाथों में धारण किये हुए कमल की सुगंधि से आकृष्ट भ्रमरदल के गुंजार से दिशाओं को मुखरित करती, सकल सुरासुर के मुकुट खचित मणियों के प्रकाश से शोभित चरणोंवाली, जो भगवान् विष्णु के हृदय में सन्निहित आनन्द रूपी वृक्ष की मधुरता के समान है, हम सब को आनन्द वितरित करने के लिए चली आ रही हैं ।

---

१ आपाङ्गतरङ्गणविश्राणनाय मू० पा० ।

[सर्वे निशम्य सत्वरमुत्तिष्ठन्ति। ततः प्रविशति परितश्चामरैरुपवीज्यमाना यथानिर्दिष्टा लक्ष्मीः]

राजा—[विलोक्य सानन्दम्] भगवति! कृतार्थोऽस्मि।

[इति[1] पादयोः पतति]

लक्ष्मी—उत्तिष्ठ वत्स ! चन्द्रकलापरिग्रहेण प्रसन्नाहमिह ते साक्षात्कारं तदभिमतमात्मनो वरं वृणीष्व।

राजा—[उत्थाय साञ्जलिबद्धम्]

साक्षात्कारफलं तव प्रणिगदेत्को वा मुकुन्दप्रिये
मातर्येषु कृपामयो निपतति क्रीडाकटाक्षोऽपि ते।

परितः—सर्वतः, चामरैः—बालव्यजनैः, उपवीज्यमाना—विधूयमाना, यथानिर्दिष्टा—उपरिवर्णिता। कृतार्था—कृतकृत्या। साक्षात्कारम्—दर्शनम्, अभिमतम्—अभीष्टम्।

मुकुन्दप्रिये—हरिप्रिये!, तव—भवत्याः, साक्षात्कारफलं—दर्शनफलं, को वा—जनः, प्रणिगदेत्—कथयेत्? मातः—जननि!, येषु—जनेषु, ते, कृपामयः—दयालुः, क्रीडाकटाक्षोऽपि—क्रीडापाङ्गवीक्षणमपि। निपतति, तेषां, भवनद्वाराङ्गणक्षोणिषु—गृहद्वाराङ्गणभुवि, क्षणेन—तत्कालम्, उन्मदेभमतङ्गजघटाघण्टारवाडम्बरैः—उन्मदानां मत्तानां दि-

[सभी सुनकर शीघ्र उठ जाते हैं। तब ऊपर वर्णित रूप में लक्ष्मी, जिन पर चारों ओर से चँवर डुलाया जा रहा हो, प्रवेश करती हैं]

राजा—[देखकर प्रसन्नता से] भगवती ! कृतार्थ हूँ।

[कहकर चरणों पर गिरता है]

लक्ष्मी—उठो वत्स ! उठो। चन्द्रकला के पाणिग्रहण से मैं प्रसन्न हूँ और तुमको दर्शन दे रही हूँ। अभीष्ट वर माँगो।

राजा—[उठकर हाथों को जोड़े हुए]

हे विष्णुप्रिये ! तुम्हारे साक्षात्कार के फल-लाभ को कौन कह सकता

1 कृतार्थोऽस्मीति मु॰ पा॰।

तेषामुन्मददिङ्मतङ्गजघटाघण्टारवाडम्बरै –
जायन्ते मुखरा क्षणेन भवनद्वाराङ्गणक्षोणयः ॥१३॥

तथापि किञ्चित् ब्रवीमि—

आचन्द्रतारकं मात-
र्मा विमुञ्च कुलं मम।
भूयादविरत भक्ति-
स्त्वयि मेऽव्यभिचारिणी ॥१४॥

लक्ष्मीः—एवमस्तु। किं ते भूयः प्रियमुपहरामि ?

राजा—भगवति,

...मत्तङ्गजानां दिग्गजानां घटानां समूहानां घण्टारवाणां घण्टाशब्दानाम् आडम्बरैः आटोपैः, मुखराः—शब्दायमानाः, जायन्ते—भवन्ति। अत्र शार्दूलविक्रीडितं छन्दः ॥१३॥

मातः—जननि !, मम—मे, कुलं — वंशम्, आचन्द्रतारकं—यावच्चन्द्रो नक्षत्राणि च व्योम्नि तिष्ठेयुस्तावत्कालपर्यन्तमित्यर्थः, मा—नहि, विमुञ्च—त्यज। त्वयि—भवत्यां, मे—मम, अव्यभिचारिणी—ऐकान्तिकी, भक्तिः—श्रद्धाभावः, अविरत—निरन्तर, भूयात्—भवतु। अत्र अनुष्टुप् छन्दः ॥१४॥

हैं? माता! तुम्हारी कृपामयी दृष्टि जिनके ऊपर पड़ जाती हैं, उनके भवनों के द्वार और आंगन की भूमि तत्काल मदमत्त दिग्गजों के घंटा-शब्दों के विस्तार से मुखरित हो उठती हैं ॥१३॥

तो भी कुछ निवेदन कर रहा हूँ —

माता! जब तक चन्द्रमा और तारे (आकाश में) रहें तब तक तुम मेरे कुल को न छोड़ना और तुममें मेरी अविचल भक्ति सदा बनी रहे ॥१४॥

लक्ष्मी—ऐसा ही हो। और कौन सा तुम्हारा प्रिय कार्य करूँ ?

राजा—भगवती !

देवीयमेव गदिता प्रसादमासादिता प्राणसमा प्रिया मे।
त्वमिन्दिरे मन्दिरसश्रितासि प्रिय पुनर्मे किमत पर स्यात् ॥१५॥

तथापीदमस्तु

राजान सुतनिर्विशेषमखिला पश्यन्तु नित्य प्रजा
जीयासु सदसद्विवेकपटव सन्तो गुणग्राहिण ।
शस्यस्वर्णसमृद्धय समधिका सन्तु स्थिरामण्डले
भूयादव्यभिचारिणी त्रिजगतो भक्तिश्च नारायणे ॥१६॥

इय, देवी–महाराज्ञी, एवम्—इत्थ, प्रसाद–प्रसन्नता, गदिता–गता, मे, प्राणसमा—प्राणतुल्या, प्रिया–कान्ता, आसादिता—प्राप्ता, त्वम्, मन्दिरसश्रितासि–मन्दिरे भवने सश्रितासि विराजमानासि, इन्दिरे—लक्ष्मि, अत परम्—अस्मात् अधिक, पुन—भूय, मे किं प्रियम्–अभीष्टं स्यात्–भवेत् ? अत्र उपजातिच्छन्द ॥१५॥

अखिला—समस्ता, राजान—भूपा, नित्य—सर्वदैव प्रजा—जनान्, सुतनिर्विशेष पश्यन्तु—पुत्रवत् पालयन्त्वित्यर्थ । सदसद्विवेकपटव—सदसद्विवेके पटव समर्था गुणग्राहिणश्च सन्त (जना) जीयासु—सर्वोत्कर्षेण वर्तन्ताम्। स्थिरामण्डले—भूमण्डले समधिका—अतिशया शस्यस्वर्णसमृद्धय—शस्याना धान्याना स्वर्णाना धनानाञ्च समृद्धय वृद्धय, सन्तु—भवन्तु। त्रिजगत—त्रिजगद्वासिनो जनस्य, नारायण—विष्णौ, अव्यभिचारिणी—चिरस्थायिनी, भक्तिश्च, भूयात्—अत्र शार्दूलविक्रीडित छन्द ॥१६॥

ये महारानी प्रसन्न हो गई, प्राणो के समान प्रिया मुझ मिल गई और आप स्वय मेरे महल म विराजमान हैं। इन्दिरे! इससे बढकर और कौन सा मेरा प्रिय हो सकता है? ॥१५॥

तो भी यह हो—

सभी राजा पुत्रवत प्रजाओ का नित्य पालन करें। प्रजायें सत और असत का विवेक करने म पटु तथा गुणग्राही होते हुए उत्कर्ष के साथ रहे। भू मण्डल म धन धान्य की प्रचुर समृद्धि हो। और तीनो लोक (के निवासियो) की नारायण म चिरस्थायिनी भक्ति हो ॥१६॥

अत्र—अस्मिन्, प्रसादगुणधामनि—प्रसादगुणस्य निवासभूत इव, नीतिरम्ये—नीत्या नदेन रम्ये विभूषिते, माधुर्यशालिनि—मधुरिमयुक्ते, निरस्तसमस्तदोषे—निरस्ता. अपगता. समस्ताः सकला. दोषाः दूषणो यस्मात् यत्र वा तादृशे, श्रीविश्वनाथकविवागमृतप्रवाहे—श्रीविश्वनाथकवेः वचनामृतधारायाम्, धीराः—सज्जनाः, मत्सरम्—अन्यशुभद्वेषम्, अपास्य—विहाय, चिरस्य—चिराय, मज्जन्तु—स्नान्तु। अत्र वसन्ततिलकं छन्दः ॥१७॥

प्रसादगुण से पूर्ण, नीति-विभूषित, माधुर्य-सम्पन्न तथा समस्त दोषों से रहित, श्री विश्वनाथ कवि की इस वाणी रूपी अमृतधारा में, धीर पुरुष मत्सर (डाह) का त्यागकर चिरकाल तक स्नान करें ॥१७॥

[सभी चले जाते हैं]

यह ग्रन्थ समाप्त

—:o:—

शुद्धि-पत्र

[हिन्दी-अनुवाद मे कुछ छूटे हुए अश को यहाँ देखें]

पृष्ठ १४ अनुवाद पक्ति ६ के बाद—

ही परिणय कर लेंगे और मैंने यह कह कर कि यह मेरे कुल की कन्या है, आप अपनी सखी के रूप मे मान कर इसका पालन करें, महारानी को सौंप दिया। [सोच कर] तो इस समय पुन किससे और किस प्रकार इसका समाचार मालूम करूँ ? क्या कारण है कि अन्तपुर म रहनवाली सुनन्दता, जिसको मैंने बहुत देर हुई बुलवाया था आ नहीं रही है ?

पृष्ठ ३१, अनुवाद पक्ति ५ के बाद—

चन्द्रकला—[दीर्घ नि श्वास छोड़ कर स्वय] हृदय ! दुष्प्राप्य की ओर अनुरक्त तुम्हारी दशा ऐसी ही होनी चाहिए।

पृष्ठ ८०, अनुवाद-पक्ति ७ के बाद—

'सखी' रति-पुरुष सदा ही अविश्वसनीय हैं' यह अश दुहरा उठा है, इसे न पढा जाय।

पृष्ठ ८७, अनुवाद-पक्ति ५ के बाद—

विदूषक—मैं भी अब (अपने) अभीष्ट-सम्पादन के लिए जा रहा हूँ।


BHARATIYA VIDYA BHAVAN
BOMBAY-7
LIBRARY